Bhaktikalin Krishna-Kavya Aur Manav-Mulya

Rs. 40/-

प्रकाशक

संहति प्रकाशन

श्रीपल्ली, शान्तिनिकेतन

७३१२३५

पश्चिमबंग

*

कॉपीराइट

लेखक

*

संस्करण

प्रथम, १९८७

*

मुद्रक

श्रीतिलक दास

श्रीलक्ष्मी प्रेस

स्टेशन रोड, बोलपुर

मूल्य : ४० रुपये।

परम पूज्य पिता जी को—

जो मेरे इतिहास रहे हैं ;

और मैं उनका नये सिरे से विकास—

उन्हीं को सादर

समर्पित

खेलत मैं को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां।
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारैं गैया।
रुहठि करै तासौं को खेलै, रहै बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैया।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउ दियौ करि नंद दुहैया।

—सूरदास।

बिनु अधिकारी भए नाहिन वृन्दावन सूझै।
रैनु कहाँ ते सूझै जब लौ वस्तु न बूझै॥

—नन्ददास।

भक्त को कहा सीकरी काम?
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरि नाम॥
जाको मुख देखत दुख उपजै ताको करनी परी प्रनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर-बिनु यह सब झूठो धाम॥

—कुंभनदास।

भूमिका

भक्तिकालीन काव्यान्दोलन को लेकर काफी विवाद रहा है। नयी चेतना उसे मुसलमानी आक्रमण की प्रतिक्रिया मानने को तैयार नहीं है। जातीय चेतना के विकास क्रम में यह अपने युग का सांस्कृतिक आन्दोलन था। इसको जनवादी क्रान्ति की भी संज्ञा दी गयी। वस्तुतः यह सोचना उचित है कि भारतीय संस्कृति के ऊपर जो बाह्याभ्यन्तर से खतरा उत्पन्न हुआ था, उसी के सन्दर्भ में यह काव्यान्दोलन उठ खड़ा हुआ। सांस्कृतिक मूल्यों के टूटने और मूल्यगत संक्रमण की पहचान इन भक्तों को थी और उन्होंने केवल रक्षा का ही भार अपने ऊपर नहीं लिया, वरन् वे जन-जीवन को मूल्य-विश्व तक पहुँचाना चाहते थे। ये भक्त कवि यथास्थितिवादी न थे, वल्कि प्रकृत-वस्तु की उन अवस्थाओं से वाकिफ थे, जहाँ उसे जाना था या जैसा उसे होना चाहिए था। इस चाहिए की परिधि में इन भक्तों ने तमाम सामाजिक जीवन पद्धतियों को स्वायत्तता की सीमा में बाँधने की कोशिश की। प्रेम यदि अपनी मर्यादा में समाज को कुण्ठित कर रहा था तो इन भक्तों ने उसे सहज मानवीय स्तर दिया। कृष्ण-भक्तों ने ऐन्द्रियता की ओर संकेत करते हुए प्रेम को स्वाभाविक सीमा में बाँध दिया और इसके आधार पर जन-क्रान्ति के लिये समस्त जन को एक स्थान वृन्दावन में खड़ा कर दिया। पुरुष और नारी को एक मंच पर एक शक्ति के साथ अभेदावस्था में प्रस्तुत किया। जनक्रान्ति की सहयोग परक आवश्यकता को लोक जीवन की स्वाभाविकता में बाँधने का काम इन कृष्ण-भक्तों ने किया। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक, दार्शनिक मूल्यों के सन्दर्भ में इन भक्तों की युगीन समझ काफी गतिशील और मुक्त थी। प्रभुवर्ग की चेतना और रुचि के खिलाफ इन भक्तों ने जन-जीवन को मूल्यात्मक गति देने का प्रयास किया। जगत् की अस्मिता को ईश्वर के सापेक्ष प्रस्तुत करते हुए इन भक्तों ने साम्यवादी चेतना को स्वीकार किया और जातिहीन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना का आग्रह इनके काव्य में बराबर रहा।

वस्तुतः अलौकिक सत्ता [illegible] देह के [illegible] जीवन के बीच बैठा देनेवाले इन भक्तों ने जीवन के [illegible] मूल्यों [illegible] ईश्वर भी लोक-जीवन के भीतर लौकिक [illegible] देहधारी हुआ और

उसी के [illegible] [illegible]त्मक आन्दोलन [illegible] इस क्रम में मनुष्य को चरम मूल्यों तक पहुँचना हुआ और चरम मूल्य भी उसकी दृष्टि के सामने था। इसीलिये भक्ति-आन्दोलन की समन्वित साधना भक्ति-काव्य आध्यात्मिक अभिव्यक्ति मात्र नहीं अपितु काव्य था। भक्ति अन्तर्वस्तु जरूर थी और उसी के भीतर इन रचनाकारों का समस्त युगीन अनुभव अभिव्यंजित हुआ। अतः वे रचनाकार भक्त थे या न थे कवि अवश्य थे और उनकी रचना काव्य। यह मानकर ही उनके काव्यान्दोलन को मानवजीवन के समस्त मूल्यों की संश्लिष्ट भाषिक अभिव्यक्ति माना जाना चाहिए। मानवीय अर्थवत्ता और प्रयोजन के सन्दर्भ में धार्मिक साहित्य की समीक्षा आज की अनिवार्य आवश्यकता है। प्राचीन आग्रहों को छोड़ कर और अपने नजर से आध्यात्म के चश्मे को हटाकर देखने पर इन भक्तों के साहित्य में उनका युगीन जीवन-गत जनवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकता। ऐसा करने के लिये पहले उसे एक सृजनशील मानस की रचना मानकर चलना ही सर्वथा उचित होगा। रचनाकार की रचना अपने काल का चरम मूल्य होती है। उस युग का सत्य उसमें निहित होता है। उसमें एक प्रकार की क्रान्ति होती है। रचनाकार अपनी रचना में गतिहीन होकर खो नहीं जाता अपितु वह युग के सत्य को प्रतिपादित करते हुए युग को बदलने की आकांक्षा रखता है। इसीमें रचनाकार केवल वर्तमान के मूल्यों का अन्वेषण ही नहीं करता अपितु उसमें भविष्य की सम्भावनाएँ भी सन्निहित होती हैं। भक्तिकालीन काव्य-आन्दोलन को उसके इसी बुनियादी धारणा में रखकर देखने की आवश्यकता है। पहले उसे काव्य मानना ही होगा।

इस प्रकार हम देखेंगे कि इन भक्तों ने एक रचनाकार के रूप में अपने रचनात्मक दायित्व का भरपूर निर्वाह किया। अपनी धार्मिक सम्प्रदायों के भीतर जन-क्रान्ति की, जिसका आधार मानववादी या मानवतावादी चेतना रही, जिसका केन्द्र मनुष्य था। धार्मिक आन्दोलन होने पर भी इन रचनाओं में लोक कल्याण की भावना सन्निहित रही। इसमें सामाजिक सुख के लिये ही निर्वैयक्तिकता और सार्वजनीनता का आग्रह रहा है। जन-जीवन की सामाजिक स्वस्थता के लिये सारा प्रयास इन कवियों ने किया। उसे लौकिकता के सन्दर्भ में देखना ही समीचीन लगता है।

इस प्रकार की भावना भक्त कवियों के प्रति अध्ययन क्रम में बराबर रही है। इसमें अनेक विद्वानों के विचारों से बराबर प्रेरणा मिली। बराबर सोचता रहा कि लौकिक जीवन मूल्यों की स्थापना और उसकी अपेक्षा को प्रस्तुत करने से इतर क्या साहित्य का महत्व है? अतः इसी चिन्ता में सुयोग पाते ही अपने अध्ययन को और अनेक विद्वानों की समसामयिक चेतना को इस पुस्तक के साथ प्रस्तुत

कर रहा हूँ अपनी मूल्यात्मक चिन्ता को केवल भक्तिकालीन कृष्ण भक्तों की रचना मे ही प्रस्तुत कर सका हूँ। अन्य भक्तों के साथ कभी बात को आगे बढ़ाया जाना अपेक्षित है। कुल पाँच अध्यायों में अपनी मूल्यात्मक अवधारणा को प्रस्तुत कर सका हूँ। इसी क्रम मे शायद समस्त सास्कृतिक मूल्यों का अध्ययन किया जा सका है। यह तो सुधी पाठक की सहमति पर निर्भर है विश्वविद्यालय की आशिक आर्थिक सहायता योजना के अन्तर्गत भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य और मानव-मूल्य विषय को रिसर्च प्रोजेक्ट के लिये चुना था। अत उसकी सीमा के अन्तर्गत उसे पुस्तक रुप मे प्रस्तुत करते हर्ष हो रहा है। इसकी अपनी सीमा थी। ऐसा नहीं हो सका कि समस्त कृष्ण-भक्तो की समीक्षा की जाय और उनकी हर रचना से उदाहरण लिये गये हों। इतना सम्भव नहीं था क्योंकि इसके लिये काफी समय की आवश्यकता है। मेरी विचारधारा में जो रचना उदाहरण बन सकी उसे स्वीकार किया गया और उन्हें नया अर्थ देने की कोशिश भी की गयी है। उस सन्दर्भ मे मेरी समझ जसी थी वसी ही मैंने प्रस्तुत करने की कोशिश की है। अपनी पूरी मान्यता में वे मुझे उचित भी लगे। अन्त में प्रयुक्त होनेवाले शब्द गिरधरलाल, प्रभु, गोपाल, गोविन्द आदि शब्दो के कारण मैं धार्मिक आग्रह न रख सका क्योंकि इन नामों को मैंने तत्कालीन चरम मूल्यों के अन्तिम लक्ष्य के रुप में मान लिया है। विभिन्न आलोचकों की आलोचना से अपने विचार को पुष्ट किया है और उनका बड़ा सहारा था कि मैंने अपने विचार को केवल भावावेश ही नही समझा अपितु उसे वर्तमान की आवश्यकता पाया। सारा प्रयास पाठकों के पास समर्पित है। यदि वे मेरी अवधारणा से सहमत हों या अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत करें तो इस कृति की यही कृतकृत्यता होगी। यदि यह अध्ययन आज की चेतना के विकास में सहयोग दे सके तो निश्चय ही इस कृति की अपनी अर्थवत्ता यही है।

इस पुस्तक के क्रम में मैं उन विचारको का आभारी हूँ जिन्होंने नयी दृष्टि से भक्तिकालीन काव्य को देखने परखने की कोशिश की है ओर जो नयी काव्य-चेतना की समीक्षा को दिशा देनेवाले है। मैं उन समस्त मित्रों एव सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होने मुझे बराबर उत्साह और सहयोग दिया है। गुरुवर प्रो० रघुवश जी को प्रणाम करना मेरा हमेशा कर्तव्य है क्योंकि उनसे जो साहित्यिक दृष्टि मिली उसके लिये मै हमेशा यही भाव रखता हूँ।

हरिश्चन्द्र मिश्र
शान्तिनिकेतन

विषय-सूची

—०*०—

मानव जीवन की धारावाहिकता और सृजनशीलता :

मानव जीवन मे धारावाहिकता है क्योंकि मनुष्य में सामाजिक के रुप में जीवन और अनुभूति के स्तर पर गुणात्मक विकास होता रहा है। इसीलिये समस्त मानव—कर्तृत्व प्रयोजन तथा सापेक्षवाद के स्तर पर इतिहास की चीज बन जाता है। इस प्रकार परम्परावादिता के स्तर पर मानव जीवन में अजस्रता होती है। अतः व्यक्ति और समाज में अटूट सम्बन्ध होता है और इसीलिये वह परम्परा को वहन करता है, साथ ही परम्परा मे बहुत कुछ जोड़ता भी चलता है। फलतः व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध, मानव-जीवन के परम्परा, निर्माण और ग्रहण में है। परम्परा के रुप में ही मानव-जीवन या कि मानव के चेतनात्मक विकास में परम्पराविहित अजस्रता होती है। इसी सामाजिक गठन के क्रम में ही मानव अपनी सृजनशीलता का प्रयोग करता और कि बदलता रहता है। वह किसी वस्तु के प्रति मानसिक क्रिया से जुड़ता चलता है और उसको अर्थ-सन्दर्भ में समेटने का प्रयास करता है। यहीं उसकी प्रयोजनशील कल्पना फलित होने लगती है। मनुष्य विषय को अर्थ से जोड़ने के प्रयास में चेतनात्मक जगत् का निर्माण करता है और सतत् परिवर्तित तथा परिवर्धित भी होता चलता है। इसी बीच वह सृजनशील होता है और अपनी इस विशिष्ट सृजनात्मकता में सामान्यीकरण का शिकार भी होता चलता है। "मनुष्य को उसकी जो विशेषता पशु से पृथक् करती है वह यह है कि वह प्रदत्तों के विश्व में नहीं रहकर व्यवस्थात्मक या संरचनात्मक विश्व में रहता है। संरचना को हमने कहीं अर्थ-सन्दर्भ भी कहा है। संरचना या अर्थ-सन्दर्भ से हमारा तात्पर्य है चित् या मन की क्रिया, जो किसी विषय के होने की प्रागपेक्षा होती है। इस प्रकार जितने प्रकार के विषय हैं उतने ही प्रकार के अर्थ हैं, अथवा कहें जितने प्रकार के अर्थ हैं उतने ही प्रकार के विषय हैं, क्योंकि अर्थ विषयों का रचयिता है। यद्यपि पशु-व्यवहार भी अर्थ-क्रियात्मक ही होता है है, किन्तु उसके विषय अर्थ-क्रिया के क्षण में प्रस्तुत होते हैं, मानव-व्यवहार व्यवस्थात्मक होते हैं।" (शल्यदेव : संस्कृति मानव कर्तृत्व की व्याख्या, पृ० १)।

मनुष्य अपने जीवन के प्रवाह में क्रिया और अर्थ का आनुभाविक प्रयोग करता चलता है न कि क्रिया के क्षण में मात्र संवेदित होता है। अर्थवत्ता के साथ जुड़ कर ही मानव-व्यवहार एक सामाजिक व्यवस्था का अंग बनता है। यह अर्थवत्ता भी समाज सापेक्ष होती है। इसीलिये मनुष्य सामाजिक व्यवस्था को मूल्यात्मक सन्दर्भ में तोड़ने का प्रयास करता है। इसीलिये वह संरचनात्मक होता चलता है, क्योंकि व्यवस्था का भंजन नयी मूल्यात्मक व्यवस्था की संरचना का ही एक पहलू है। इस बीच वह कारण की शृङ्खला से अपने को मुक्त पाता है। लेकिन उसकी यह स्वतन्त्रता निश्चय ही समाज के बन्धन में ही हो सकती है, क्योंकि उस दौरान अपनी बौद्धिकता के कारण ऐसा करने के लिये बाध्य होता है। इस प्रक्रिया में वह भोक्ता न हो कर कर्ता होता है, क्योंकि वह अपनी बौद्धिकता एवं अवधारणा तथा संवेगों का निर्वैयक्तीकरण करता है। उस समय जब मनुष्य संरचनात्मक वृत्ति में जीता है, वह व्यक्ति रुप से हट कर संस्कृत मानव होता है और वह व्यक्तित्व से आगे चलकर अतिव्यक्तित्व के धरातल पर पहुँच जाता है। अब वह सांस्कृतिक अस्तित्व में अपनी चेतना का लय करता होता है। अतः उसकी स्वतन्त्रता भी एक सीमा रेखा में बंधी होती है।

मनुष्य को समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिये तथा उसमें नैतिक जीवन यापन करने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसका संघर्ष व्यक्ति तथा समाज के बीच होता है, बल्कि समाज के अन्तर्गत रहनेवाले व्यक्तियों के समूहों के बीच होता है। तात्पर्य यह कि सृजनशीलता का काम एक जोखिम का काम है। सृजनशील व्यक्ति, रचनात्मकता के दौरान समस्त संकटों को सहन करने की शक्ति और क्षमता रखता है और समस्त व्यक्तियों के वास्तविक कष्ट से वाकिफ होता है। सच बात यह है कि सृजन में लगा हुआ व्यक्ति आस्थावान क्रान्तिकारी होता है, क्योंकि वह मूल्यों को रचता भी है और तोड़ता भी है। वह समाज की अपेक्षाओं के केन्द्र में रह कर ही कार्य करता है। तुलसीदास को रामचरित मानस अवधीभाषा में लिखते समय क्रान्तिकारी होना पड़ा होगा और कबीर को हिन्दू तथा मुसलमानों की जड़ता की भर्त्सना करते समय क्रान्तिकारी मानस बनाना पड़ा होगा। यहाँ क्रान्तिकारी होने का विशेष अर्थ है। क्रान्तिकारी वह है जो प्रगतिशील हो [illegible] न ही [illegible] समाज की अपेक्षाओं की [illegible]

रखता है रचनाशील व्यक्ति जड़ता का विरोधी और इसीलिये गत्यात्मक होता है। वह समाज में जीता है, उससे जुड़ा होता है तथा सक्रिय रुप में समाज को प्रवाह या परम्परा देता चलता है। समाज से पृथक होकर मनुष्य की सक्रियता शून्य हो जाती है। अतः, मनुष्य अपनी सृजनात्मकता का समर्पण समाज के प्रति करता है और उसकी परम्परा को ग्रहण करता हुआ आगे परम्परा के लिये कुछ छोड़ता भी चलता है। समाज और व्यक्ति की अन्योन्याश्रितता के कारण ही व्यक्ति समूह की समस्त क्रिया कलापों एवं बौद्धिक चिन्तन का सश्लिष्ट रुप समाज में अभिग्राह्य होता चलता है।

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इसी विवेकशीलता के कारण ही वह मूल्यो की रचना करता चलता है। मूल्यों को इच्छा के साथ जोड़ना भ्रान्ति है। व्यक्ति इच्छा रखता है इसलिये वह रचनात्मक नहीं है अपितु वह बौद्धिक प्राणी है। अतः विवेक करने की शक्ति उसमे है। इसीलिये वह मूल्यों का सृजन करता है। "मूल्य इच्छा का ठीक विपरीतार्थक है, इसका स्रोत विवेक मे है, जो प्राय ही इच्छा के विपरीत कर्म के लिये मानव-कर्त्ता को नियोजित करता है।" (शल्यदेव वही पृ० ६) मनुष्य की सृजनशीलता को समझने के लिये समाज की अवस्थिति को समझना आवश्यक है। इसके साथ ही मानव की सृजनशीलता का दर्शन होता है। मानव की सृजनशीलता को समझने के लिये समाज की अवधारणा का विवेचन आवश्यक है। इससे मानव की निरन्तरता और अजस्रता में उसके जीवनगत एव चेतनात्मक प्रभाव का निर्धारण किया जा सकता है।

मानवजीवन आदि से अब तक विकासमान है और इसलिये वह ऐतिहासिक है। इतिहास में व्यक्ति और समाज की समान रुप से भूमिका होती है। एक के बिना किसी का अस्तित्व नहीं होता। "मानवविकास के इतिहास मे व्यक्ति और समाज दोनों का समान रुप से प्राधान्य है और उनमें से किसी भी एक को प्राथमिक नहीं कहा जा सकता। ....
मनुष्य में मानवीय प्रकृति तभी विकसित होती है, जब वह सामाजिक मनुष्य होता है और जब वह अनेक मनुष्यों के साथ एक सामान्य जीवन में भागीदार होता है" (मैकाइवर एव पेज : समाज, पृ० ३८, ४१)। मानव समष्टि से युक्त होने के कारण मानव-चेतना के आरोह अवरोह के साथ समाज में भी मानव-जीवन की भाँति जन्म, यौवन, प्रौढ़ता, वृद्धावस्था और मृत्यु जैसी जविक प्रक्रिया देखी जा सकती

दोनों दिखाई देता है। समाज में ही संस्कृति का अस्तित्व होता है। मनुष्य की प्रकृति, जीवन और चिन्तन, रीतियाँ तथा रोजमर्रा के काम—काज, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन आदि की अभिव्यक्ति उसकी सामाजिक अवस्थिति में ही सम्भव है।

समाज अपनी समष्टिगत प्रारुप मे संस्कृति और चेतना के स्तर पर महामानव का स्वरुप ग्रहण करता है, जिसमें धार्मिक अवतार की भाँति परिवर्तन होता चलता है। यह परिवर्तन युग-सापेक्ष मानव समष्टि की वस्तुनिष्ठता के कारण ही होता है जिसके अधीन मनुष्य मूल्यों की रचना करता चलता है। वह अपनी वस्तुनिष्ठता में ही सतत् प्रवाहमान होता है। इसे परिवर्तन का उद्विकास कहा गया है। "उद्विकास की प्रक्रिया वस्तुपरकता से निर्दिष्ट होती है और यह ज्ञात किये जाने के लिये प्रतीक्षा करती रहती है। यदि इस प्रकार प्रकट होनेवाली प्रक्रिया हमारे बांछित मूल्यों को सन्तुष्ट कर देती है और यदि उद्विकास परक परिवर्तन की दिशा हमारे द्वारा अभीष्ट मूल्यों की पूर्णता उपलब्ध करा देती है फिर यह उद्विकास परक प्रक्रिया हमारे लिये प्रगति भी है" (मैकाइवर एवं पेज, पृ० ४५८)। इसके साथ ही सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ मे जविक कारक की बात उठायी गयी। उससे मनुष्य के मानसिक विकास को भी रुपायित किया गया। इसके अन्तर्गत इस बात पर विश्वास किया जाने लगा कि पर्यावरण और आनुवशिकता के आधार पर ही मानव मस्तिष्क का विकास होता है। इस प्रकार पिता का विकसित रुप ही पुत्र है। किन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं, क्योंकि मानव-मस्तिष्क जविकीय विकास से निकल कर विकास के लिये काफी स्वतत्र है। जैविकीय विकास मात्रात्मक है, जबकि मस्तिष्क का विकास गुणात्मक होता है। मुर्गी के अण्डे से मुर्गा का होना जविकीय विकास है तो पंक्षी के मस्तिष्क से मानव मस्तिष्क का विकास गुणात्मक होता है। सांस्कृतिक विकास मे दोनों विकास एक साथ होता है। इस रुप में सामाजिक विकास परम्परा में गुणात्मक विकास है। "यद्यपि मानसिक विकास अभी तक जैविकीय विकास पर निर्भर है फिर भी यह जैविकीय आवश्यकताओं के पूर्णतया अधीन नहीं है और प्राकृतिक वरण का अब इसपर सिमितरुप से प्रभाव और नियन्त्रण होता है। मस्तिष्क कुछ सीमा तक अपनी जविक अधीनता से निकल जाता है और अपने स्वय अस्तित्व के अनुरुप वह अपना विकास करने में स्वतन्त्र है। परन्तु ऐसा केवल एक नये पर्यावरण के सम्बन्ध में होता है। यद्यपि अभी तक मानसिक विकास की निरन्तरता जैविक आनुवाशिकता के कारण सम्भव

है। मानसिक प्रगति मुख्यतया, मानसिक गुणों में वंशानुगत रूप से होने वाली वृद्धियों के कारण नहीं है। बल्कि यह मानव उपलब्धि के परिणामों के उस व्यापक विस्तार द्वारा है" (मैकाइवर एवं पेज : वही पृ० ४७४)।

समाज की वैज्ञानिक व्याख्या के अन्तर्गत दो वस्तुस्थितियों का निर्धारण किया जा सकता है। पहली वैयक्तिक वस्तुस्थिति और दूसरी सामाजिक वस्तुस्थिति। ये वस्तुस्थितियाँ अन्तर्सम्बन्धित हैं। इनमें पृथकता नहीं है। वैयक्तिक वस्तुस्थिति को ऐकिकों के रुप में स्वीकार करके समाज के अध्ययन और परिवर्तन को समझा जा सकता है। सामाजिक व्यक्तित्व की रचना में वैयक्तिक वस्तुस्थिति का परिवर्तन हो जाता है। इसपूरी प्रक्रिया में ऐकिकों का संघर्ष होता है और उसमें परिवर्तन भी होता रहता है। इस स्थिति में मनुष्य कलाओं से रुढ़ियों और रुढ़ियों से दर्शन की ओर अग्रगामी होने में एक विस्तृत क्षेत्र छोड़ता चलता और उत्तरोत्तर प्रगामी होता चलता है। इस प्रकार प्राकृतिक चरण में प्रतिस्पर्धा की स्थिति से एक असीमित क्षेत्र में मानव का प्रवेश होता है, जहाँ प्रतिस्पर्धा का भाव लय प्राप्त कर लेता है। ये सारे क्षेत्र जो छूटते चलते हैं, लोकरीतियों के रुप में वर्तमान रहते हैं।

सामाजिक विकास का मार्क्सवादी सिद्धान्त व्यवहारिक स्तर पर खड़ा होता है, जिसमें आदर्श और कल्पना का आग्रह नहीं रहा है। इसमें आर्थिक व्यवस्था को ही समाज की संरचना एवं विकास के लिये अनिवार्य तत्व माना गया है। "सम्पूर्ण योग समाज की आर्थिक रचना का निर्माण करता है जो कि वास्तविक आधार होता है, जिसपर कि वैधानिक और राजनीतिक अधिसंरचना (Super structure) खड़ी होती है और जिसके अनुरुप सामाजिक, चेतना के निश्चित रुप विकसित होते हैं।" (मैकाइवर एवं पेज : पृ० ४८८)। सामाजिक विकास की विभिन्न मतावधारणा में निश्चितता का दर्शन नहीं होता है। समाज में वैयक्तिक वस्तुस्थिति के परिवर्तन के साथ ही पूरे समाज की व्यवस्था में भी परिवर्तन आता है। समुदाय के समस्त व्यक्तियों को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अपने विचारों का समायोजन करना पड़ता है। अब इस परिवर्तन में उन ऐकिकों के दबाव वश ही अपने विचार की आदतों में परिवर्तन करना पड़ता है। इस बीच उसकी पहली आदतें प्रयोजन हीन सिद्ध हो चुकी होती हैं। वातावरण जब बदल जाता है तभी व्यक्ति को अपनी इच्छा और महत्व संरचनाओं में पुनर्समायोजन करना पड़ता है। इस बीच जो बाहरी दबाव पड़ता है उसके उत्तेजन के साथ प्रतिक्रिया होती है। इस समायोजन की

प्रक्रिया में स्वतन्त्रता और सुविधा के अनुरुप सामाजिक रचना में विकास होता चलता है उसकी सीमा वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता प्रदान करने की क्षमता पर निर्भर करती है ताकि विकास या परिवर्तन सबका हो सके। वैयक्तिक परिवर्तन, परिवर्धन की अनुपस्थिति मे समुदाय बदलती हुई साधारण स्थिति के अनुरुप मन्दगति से बदलता है। आर्थिक स्थिति के दबाव से देखा जा सकता है कि जिस समाज में धनी वर्ग के लोग होंगे जिन्हें काफी अवकाश है, उन्हें बदलते वातावरण में परिवर्तन और समायोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यही कारण है कि धनी लोग अपनी इच्छाओं आदि में जल्दी परिवर्तन करने को बाध्य नहीं होते। मनुष्य समाज के अन्तर्गत धर्म, कला और नीति का निर्धारण और उद्घाटन करता है। इनको समाज मे मूल्य के रुप मे स्वीकार किया जा सकता है। इनके मूल्य का कारण, इनका स्वय का सवेग नहीं अपितु वह है जिसके तहत मनुष्य अपने कर्तव्य का अर्थ समझता है। समाज में इस प्रकार की मूल्यात्मकता की अपेक्षा रहती है, क्योंकि इसके बिना समाज अपनी रचना मे परम्परित नहीं हो सकता। आपसी सम्बन्धों के अभाव में समाज समष्टि बनकर रह जाता है। अत: व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्गत सामजस्य की स्थिति का होना अति आवश्यक है। मनुष्य का जो सामाजिक अनुभव है। वही संस्कृति है, जो व्यक्ति और समाज की प्राणशक्ति है। व्यक्तिगत अनुभव सापेक्षिक होकर ही सामाजिक अनुभव बनता है। समाज केवल आवेगात्मक पर्यावरण नहीं है, अपितु अनेक उपयोगी अर्थ और व्यवहार की वस्तुएँ इस पर्यावरण को निर्मित करती हैं। "समाज केवल आवेगात्मक पर्यावरण अथवा समष्टि नहीं है, वैज्ञानिक, दार्शनिक धार्मिक, उपयोगात्मक आदि अनेक प्रकार के अर्थ-व्यवहार-वस्तुएँ इसके पर्यावरण को फलित करती हैं" (शल्यदेव : वही पृ० ३३)।

समाज की रचना को परमाणवीय रचना के रुप मे देखा जा सकता है। यह समस्त व्यक्तियों का केन्द्रक है। इसके अन्तर्गत हर मनुष्य आकर्षण तथा विकर्षण बल का अनुभव करता हुआ आपस में सम्बद्ध होता है। "यह संस्थान सामाजिक विश्व मे छोटे से छोटा संस्थान होता है जो आवेगात्मक आधार पर निर्मित अन्तर्वैक्तिक संस्थान होता है। यहाँ जिस छोटे से छोटा सामाजिक ऐकिक की चर्चा की गयी वह सामाजिक व्यक्ति का व्यक्तित्व और व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्वैयक्तिकता की प्रवृत्ति के कारण सर्वथा भिन्न होते हैं। समाज की जीवन्तता का सामाजिक सस्थाओं की सृजनात्मकता से घनिष्ट

सम्बन्ध है। मनुष्य सच्चे अर्थ में अपनी प्रगति का नियमन सृजनात्मक के द्वारा करता है। मनुष्य की सृजनात्मकता का ज्ञान आत्मानुभूति के द्वारा होता है। कठोर तर्क प्रणाली से मनुष्य की सृजनशील ढंग से आत्म-निर्धारण करने की बात सिद्ध नहीं की जा सकती। देवराज के शब्दों में सृजनशीलता को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

"क—मनुष्य अपने परिवेश को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था के रूप में जानता या ग्रहण करता है।

ख—मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओं की सीमा में विस्तार करता रहता है। जिस यथार्थ के प्रति ये प्रतिक्रियाएँ की जाती हैं वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है।

ग—मनुष्य प्रकृति के वस्तुक्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नये संगठन उत्पन्न करके अपनी सृजनशीलता को प्रमाणित करता है।

घ—मनुष्य की सृजनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी [illegible] कल्पनामूलक निर्मितियों में होता है।

च—अन्त में कहा जा सकता है कि वह ज्ञानके आधार पर उच्चतर का भावन प्रस्तुति करें—इस उच्चतर का सम्बन्ध हमारी नैतिक, सौन्दर्यपरक अनुभूतियों से होता है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत उच्चतर को यथार्थ बनाने का प्रयत्न ही मनुष्य जाति को प्रगतिशील बनाता है" (देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : पृ० १४—१५)।

मनुष्य अपनी सृजनशीलता के कारण जीवन तथा समाज के अर्थ को वस्तुपरक बनाता चलता है या कि अपने कर्तव्य-अर्थ को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि एक निश्चित सन्दर्भ में देखने पर वह सर्वसामान्य प्रेक्षकों को एकही वाच्य या अभिप्राय तक पहुंचा देता है। इसी के साथ मनुष्य अपनी सृजनशीलता, संवेदना तथा कल्पना का प्रयोग इस रूप में करता है कि सामान्य संवेदना और कल्पना से युक्त व्यक्ति अपने सुख-साधनों के रूप में ग्रहण कर सके। मनुष्य की सृजनशीलता समाज के भीतर विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययों या धारणाओं में नवीनता का प्रक्षेप करती है। "मनुष्य की सृजनशीलता अपने को विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययों या धारणाओं में और उन कल्पनामूलक

स्थापनाओं में जो उन मूल्यों को नये रूपों में गठित करता है प्रकट करती हैं' (देवराज वही पृ० २

सामाजिक एवं परम्परा के रूप में मानव-जीवन में एक धारावाहिकता है। इस अजस्र प्रवाह में मनुष्य मूल्यों की खोज में सतत् प्रयत्नशील रहता है। परिणामतः वह रचनाशील होता है। इस खोज में निरत रहते हुए वह मूल्यों की सृष्टि करता चलता है। जब मनुष्य युग की अपेक्षाओं के क्रम में जी रहा होता है, उस समय उसे तृप्ति भी होती है। "मनुष्य द्वारा किये गये मूल्यांकन या मूल्यात्मक निर्णय न तो खामखयाली हैं और न केवल शौक की चीज, वास्तव में वे मानव—प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता हैं" (देवराज : पृ० ४७)। इस मूल्य सृष्टि के समय मनुष्य पूर्णतः वस्तुनिष्ठ होता है। निश्चय ही इस बीच वह अपनी समस्त मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, सम्मतियों अथवा दूसरी मनोदशाओं को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वे सभी मनुष्य की इच्छा संवेदना, सम्मति तथा मनोदशा होकर प्रस्तुत होती है। इस प्रकार मनुष्य अपनी सृजनशीलता के अनुक्रम में सामान्यता का प्रयोग करता है। मूल्य समाज-सापेक्ष ही अपनी अवस्थिति रखते हैं। समाज निरपेक्ष मूल्यों की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सापेक्षता मानव-ज्ञान की वह सीमा है, जहाँ तक वह भौतिक जगत् को जानता है। वस्तुओं के समस्त गुण सापेक्ष होते हैं। अतः उनकी अवस्थिति में दूसरी चीजों की सम्बद्धता अपेक्षित है। मनुष्य समाज का अनुभव तथा भौतिक जगत् का ज्ञान ग्रहण करते हुए सार्वभौम की खोज करता रहता है। इस बीच मनुष्य व्यक्ति चेतना में जीता हुआ, वस्तुगत होता चलता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुगत होने में उसका अपना नियन्त्रण नहीं रह जाता, अपितु बहुतसे लोगों का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार मनुष्य दृश्य जगत् में जो प्रेक्षण तैयार करता है उसमें विभिन्न प्रेक्षणों के बीच समानता अवश्य होनी चाहिए। सृजनशीलता सामान्य मनुष्य में और उसके उत्पाद प्रतिभाशाली व्यक्ति में होती है। यही कारण है कि एक विशेषज्ञ की सम्मति ही सामान्य अथवा स्वाभाविक मानी जाती है।

मनुष्य समाज मे नैतिकता एवं सौन्दर्य से सम्बन्धित गुणों को जो भौतिक दृश्य-जगत् में पाये जाते हैं, वस्तुनिष्ठ स्तर पर प्रस्तुत करता है। मनुष्य जब समाज में नैतिकता की स्थापना करना चाहता है तब वे नैतिकता से सम्बन्धित

विशेषताएँ भी वस्तुनिष्ठ हो जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य समस्त सामाजिक ज्ञान को वस्तुनिष्ठ स्तर पर ही परम्परा को खोज बनाता चलता है जिसका प्रतिफल संस्कृति, दर्शन, साहित्य और कला आदि में होता रहता है। मनुष्य को इस मूल्य सृष्टि के लिये तथा सापेक्षिक होने के लिये निजी इच्छाओं का दमन करना होता है; "अपने अभीष्ट मूल्यों, आदर्शों तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य अपनी बहुत सी दूसरी इच्छाओं पर कठिन नियन्त्रण अथवा दमन कर डालते हैं।" (देवराज : वही पृ० ९०)। मनुष्य जो कुछ करता है वह समाज के लिये समाज के भीतर करता है। इस प्रकार वह मानव-इतिहास का अंग बनता जाता है। अतीत को नयी व्याख्या देता है, वर्तमान की अपेक्षाओं के क्रम में उसे ग्रहण करते हुए वर्तमान की विश्रृंखलताओं को बदलने हेतु क्रान्तिकारी स्वरुप ग्रहण करता है। अपनी परम्परा में बदलना और मूल्यों की प्रक्रिया में गतिशील जीवन की ओर उन्मुख होना मनुष्य का अनिवार्य गुण है। मनुष्य की सृजनशीलता एक विशिष्ट गुण है जो उसके ज्ञान का भी अतिक्रमण कर जाती है। इसी क्रम में वह युग, परिवेश और क्षण का व्यापक अनुभव करता हुआ हर अगली उपलब्धि में वह अपने को यांत्रिक मनुष्य जाति को समेटता रहता है। इसी क्रम में वह भौतिक, अलौकिक एवं आध्यात्मिक तथा दिव्याराधन को समर्पित जीवन-दर्शन की खोल को फाड़कर वस्तुस्थिति से जुड़ सका। समाज और राजनीति तथा दर्शनके सन्दर्भ में मूल्यात्मक सन्दर्भ ग्रहण करता हुआ वह काल्पनिक वायवीयता से हटकर मिट्टी से जुड़ता गया। यथार्थवादी होता हुआ वह यथास्थितिवाद का विरोधी हुआ। फलतः वह मानवतावादी से मानववादी, व्यक्तिवादी, सामाजिक व्यक्तिवादी आदि जीवन-दृष्टियों से सम्बद्ध होता गया। अब उसने मानव केन्द्रित चिन्तन को ही सत्य के रुप में स्वीकार किया। इस प्रकार अपनी जी जाती हुई जिन्दगी के यथार्थ को सामाजिक सत्ता में उसने मूल्य के रुप में स्वीकार किया। धार्मिक साधना में भी लौकिकता को स्वीकार करते हुए उसे अनिवार्य रुप से जीवन की पीठिका पर आसीन किया। यह सब कुछ अपनी परम्परा की धारावाहिकता और मनुष्य की सृजनात्मकता के तहत हुआ। मनुष्य की परम्परा—वहन तथा उसमें नवीनता का प्रक्षेप ही उसके समाज को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। मानव की इस आधार भूत चेतना को निर्धारित करके ही किसी युग की सच्ची समझ खड़ी हो सकती है। फलतः बदलाव की भूमिका और अपेक्षित आवश्यकता के

क्रम में रचनाकाल के वस्तु-जगत् का मूल्यात्मक सन्दर्भ निर्धारित किया जाना अपेक्षित है। इसी के क्रम मे सास्कृतिक मूल्यों का रचनात्मक सन्दर्भ भी समझा जा सकता है। आगे विभिन्न शीर्षकों में सास्कृतिक मूल्यों के क्रम में साहित्यिक रचनाधर्मिता का निर्धारण किया जाना अपेक्षित है।

सांस्कृतिक मूल्यों की अजस्रता और कृष्ण-काव्य की रचनाशीलता।

सास्कृतिक उपलब्धि के रुप में ही संस्कृति (मूल्य-विश्व) वर्धमान और ऐतिहासिक होते है। मानव का गुणात्मक विकास, सामाजिक सम्बन्धों के बीच उसकी संस्कृति का ही विकास है। सांस्कृतिक मूल्य के अन्तर्गत मनुष्य की समस्त शिक्षाओं का समावेश किया जाता है। इस प्रकार समस्त अनुशासनगत चेतना का बौद्धिक विकास ही संस्कृति के रुप मे प्रतिफलित होता है। निश्चय ही ये विभिन्न अनुशासनगत विचार एवं चेतना कहीं न कहीं हमारे बौद्धिक चिन्तन के साध्य और साधन दोनों हैं। यह समस्त अनुशासनगत चेतना का विकास सही अर्थों में मानव-सृजनात्मकता का प्रतिफल है, संस्कृति के अन्तर्गत बाह्य और आन्तरिक सूक्ष्म शिक्षा संस्थानों का समावेश किया जाता है। धार्मिक मूल्य, दार्शनिक मूल्य, कलात्मक मूल्य तथा साहित्यिक मूल्यों को संस्कृति के सूक्ष्म आन्तरिक मूल्य के रुप में स्वीकार किया गया, जिनकी अलग-अलग क्रियाएँ हैं। अतः संस्कृति का समग्र विवेचन आवश्यक है। विभिन्न अनुशासनों के अन्तर्गत मानव की या उसकी उस भाविक सृजनशीलता पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है जिस भाविक रचनात्मकता को ग्रहण कर साहित्य और अन्य अनुशासन आपसी समानता के करीब पहुँचते हैं। इस प्रकरण में, मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्ति का प्रयोग करता चलता है और साथ ही अस्वाभाविक अवरोधों को हटाता भी चलता है। मनुष्य ने अपने धर्म दर्शन कला एवं साहित्यक अभिव्यक्ति के लिये जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, उनका भी विकास होता चलता है। वे क्रमशः अभिव्यक्ति की क्षमता की ओर अग्रसर रहे हैं। सांस्कृतिक विकास के सन्दर्भ में ही मानव के गुणात्मक एवं बौद्धिक विकास की यात्रा का निदर्शन हो सकता है।

संस्कृति को मनुष्य का समस्त सीखा हुआ ज्ञान कहा गया। इस बीच निश्चय ही समाज सापेक्ष्य उसको अग्रगमन और ह्रास की अनेक स्थितियों से

गुजरना पड़ता है अत सांस्कृतिकविकास में एक अनवरत प्रक्रिया आती है जो क्रमशः शिक्षा संस्थानों के जटिलतर विकास में प्रमाणित होता चलता है। फलतः इस पूरे दौर में मनुष्य जीने योग्य होता चलता है। वह नैतिक स्तर पर समस्त ज्ञान की सतत् खोज में लगा रहता है। इस प्रकार मनुष्य अपना आत्मतोष प्राप्त करता रहता है। क्योंकि मनुष्य सदैव भौतिकतावादी प्रवृत्ति का शिकार नहीं होता अपितु उसमे कुछ ऐसी भी जिज्ञासाए होती हैं, जिसकी पूर्ति के लिये वह अपनी इच्छाओं, संवेदनाओं और अन्य आवश्यकताओं को दमित करता चलता है। इस बीच, मनुष्य अपने को सामाजिक सीमा में स्वतन्त्र तथा सुरक्षित समझता है। (यद्यपि नयी चिन्तन प्रणाली इस बात को मानने को तैयार नही क्योंकि यथार्थ जीवन में मानव की स्वतन्त्रता और सुरक्षा पर बराबर खतरा रहता है। इस चिन्तन में केवल सदिच्छा पर ही जोर दिया गया है। ये आज के सांस्कृतिक चिन्तन के यात्रा की चीज हैं) इस प्रक्रिया में भौतिक सामग्री एवं संस्थाए उसकी मदद करती हैं।

यह सांस्कृतिक स्वतन्त्रता मानव-जीवन में समस्त मूल्यों के उपभोग के सन्दर्भ मे साध्य और साधन दोनों है। सांस्कृतिक उपलब्धि के सन्दर्भ में मनुष्य आत्म स्व से हटकर सांस्कृतिक स्व में प्रवेश करता है फिर वह अपने को स्वार्थ रहित अर्थ छवियों से सम्बन्धित कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य चरम मूल्यो की ओर सतत् विकास करता हुआ उनको सार्वभौम बनाता चलता है। चरम मूल्य वे हैं जिनके ऊपर समस्त मनुष्यों की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया समानरूप से होती है।

सांस्कृतिक चेतना अपनी वस्तुनिष्ठता में ही प्रवाह की चीज़ बनती है और वह तब समस्त मनुष्यों के द्वारा अभिगृहित हो सकती है। मनुष्य धर्म, दर्शन और कला तथा साहित्य के विकास में चरम मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है। "वस्तुतः मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपने को सचेतरूप में विश्व की समग्रता से सन्बन्धित करके जीवित रहना चाहता है। एक ऐसे प्राणी के रुप में जिसकी कुछ निश्चित जरुरतें है, मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह पाता, वह यह महसूस करना चाहता है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड का नागरिक है (देवराज : वही-पृ० १८३) सांस्कृतिक क्रिया से मनुष्य की चेतना का विस्तार होता है। व्यक्ति की संस्कृति सामाजिक संस्कृति के भीतर ही अपना अस्तित्व रखती है इस बीच मनुष्य

अनेक सम्भावनाओं की दिशा में निरत रहता है. किसी व्यक्ति की संस्कृति की वह मूल्य चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के आलोक में होता है। सांस्कृतिक चेतना जितनी मूल्य चेतना है उतनी ही तथ्य-चेतना भी। वह चेतना यथार्थ तथा सम्भाव्य को अर्थवत् के रूप में ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है। ये सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिए वह जीवित रहता है। उनकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं" (देवराज वही—पृ० १८८)। संस्कृति का सम्प्रेषण समान धर्मा व्यक्ति को ही हो सकता है।

मनुष्य समस्त गोचर वस्तुओं के अतिरिक्त समस्त सूक्ष्म विषयों की अवधारणा प्रत्यय के रूप में करता है। इस प्रकार वह सिद्धान्त के द्वारा रूप देता चलता है। मनुष्य अर्थ और मूल्य की जिज्ञासा के रूप में ही संस्कृति के स्वरुप की जिज्ञासा करता है। सोरोकिन ने संस्कृति को विचार क्रिया माना है। "संस्कृति के स्वरुप की जिज्ञासा वास्तव में अर्थ तथा मूल्य के स्वरुप की जिज्ञासा है। इसकी रुचि मानव के मानसिक तथा नैतिक स्वभाव के ज्ञान में है, क्योंकि यह जिज्ञासा संस्कृति को विचार क्रिया के रूप, अथवा ऐसी क्रिया के रूप में जो विचार द्वारा प्रेरित होती है, देखती है" (शत्यदेव, पृ० १२ उद्धृत) संस्कृति सामाजिक समुदाय के घटक व्यक्तियों की मानसिक तथा शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में भी मानी गयी है। "ठीक बात तो यह है कि सामाजिक को ही संस्कृति कहते हैं, व्यक्तिगत अनुभव को नहीं। व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव के दर्पण रूप में ही संस्कृति कहलाता है" (शत्यदेव : पृ० १५)। यही कारण है कि सामाजिक अनुभव समाज की चीज हो कर अजस्रता में प्रवाहमान रहा है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को प्राथमिकता शिवकुमार मिश्र ने दी है। "मनुष्य सामाजिक अस्तित्व का स्थान पहले है, उसके चेतनागत कार्यकलापों का बाद में, कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी सामाजिक चेतना को तय करता है" (शिवकुमार : दर्शन, साहित्य और समाज : पृ० १४)। लेकिन उन्होंने संस्कृति के सम्बन्ध को मानव की यथार्थवादी भूमिका से जोड़ने का प्रयास किया है। उद्धरण के माध्यम से स्पष्ट करना चाहा है कि समाज के आर्थिक भौतिक जीवन से पृथक संस्कृति का अस्तित्व नहीं है। "वह संस्कृति का सम्बन्ध रोटी से, व्यापक अर्थों में समाज के आर्थिक भौतिक जीवन में चलने वाले कार्यकलापों से जोड़ते हैं। उनके अनुसार यही सही है कि आदमी केवल

रोटी पर ही जीवित नहीं रहता, परन्तु यह भी सच है कि आज तक आदमी की कोई ऐसी नस्ल तैयार नहीं की जा सकी है जो रोटी अथवा किसी न किसी प्रकार की भोजन सामग्री के अभाव मे जीवित रह सके" (शिवकुमार : पृ० १३)।

प्रश्न है संस्कृति का अधिष्ठान क्या है? इसके निर्धारण से ही सांस्कृतिक रचनाशीलता का अध्ययन किया जा सकता है। सस्कृति भौगोलिक सीमा, व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्ति के भीतर ही स्वरुप ग्रहण करती है। व्यक्तित्व की अवधारणा में आदर्श मानव-व्यक्तित्व के भौतिक अधिष्ठान मे अनिश्चय भले है। किन्तु सास्कृतिक अधिष्ठान की भौतिक अवधारणा में कम अनिश्चय की स्थिति है। 'शरीर और भौगोलिक क्षेत्र को क्रमशः मानव व्यक्तित्व और सास्कृतिक व्यक्तित्व के अधिष्ठान कहना उचित नहीं है" (शल्यदेव : पृ० २७) वस्तुतः व्यक्ति की मनस्क्रिया संस्कृति रुप मे दो संस्थानों की रचना करती हैं। सस्कृति में व्यक्ति का नहीं सामाजिक व्यक्तित्व का महत्व है। अतः संस्कृति का अधिष्ठान व्यक्तिमन नही होता, अपितु सस्कृति मन हुआ। क्योंकि व्यक्तिमन तो मात्र एक मनस्क्रियाओं का संस्थान है, उसमें वस्तुनिष्ठता का नितान्त अभाव है। व्यक्ति ऐक्कि वैयक्तिक होकर सामाजिक व्यक्तित्व की रचना नही करता। व्यक्ति का व्यक्तित्व अनुभव की एकात्मकता में ही अपना अधिष्ठान देखता है। इसे ही ज्ञातृत्वाभिमान (मैं ज्ञाता हूं यह बोध) कहा जा सकता है। निश्चय ही व्यक्तिमन सस्कृति का अधिष्ठान न होकर मानव-मन ही संस्कृति का अधिष्ठान होगा, क्योंकि व्यक्तिमन उद्दीपनों की प्रतिक्रिया तथा संघात पूर्ण मस्तिष्क की परमाणुवीय क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संस्थान है। इस रुप में समाज काल्पनिक बनकर रह जाता है। उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन पाती, सारी क्रिया क्षणिक संवेगबन कर रह जाती है। व्यक्तिमन का मानव-मन के स्तर तक पहुँचना ही उसकी वस्तुनिष्ठता एवं सार्वभौमता का परिचायक होता है। यही उसकी रचनात्मकता का परिचायक है इस समय व्यक्ति मानस समाज-मानस हो चुकता है इस समाज-मानस में अभिव्यक्ति की एक सूत्रता और अनुभूत एकत्व दो तत्व सामने आते हैं। इसी कारण सस्कृति में एक प्रकार की अजस्रता अग्रगमन तथा ह्रास के क्रम मे दिखाइ देती है।

अब सास्कृतिक स्वरुप एवं उसकी अजस्रता की चर्चा के साथ उसकी रचनात्मकता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। वस्तुतः मनुष्य जाति मन

में ही वस्तु अवधारण करता है। यही उसका सांस्कृतिक सन्दर्भ है। शल्यदेव सांस्कृतिक सृजन को मानव-प्रकृति के अभियोजन के रूप में मानते हैं। "विभिन्न सांस्कृतिक रूपों—भाषा, विज्ञान, धर्म, कला आदि का अन्य प्रकृति के अभियोजन के सन्दर्भ में भी हुआ माना जाए, तब भी यह मानव की उस सृजन चेतना का व्यापार है जो विश्व-योजना करती है। सभी मानवीय अभियोजन वासना और आवेग का सन्दर्भ छोड़कर रचनात्मक अर्थ के सन्दर्भ में व्यापारित होते हैं, जिसमें अभिनिवेश वासना-व्यय के बजाय व्यवस्थान और मूल्य का रूप ले लेता है" (शल्यदेव : पृ० ४७) इस प्रकार वह मानवीय अभियोजन के माध्यम से सृजनशील होता चलता है और मानवीय स्वभाव का सामान्यीकरण करता है।

मनुष्य मानसिक विकास के सन्दर्भ में सांस्कृतिक उपलब्धि को अभिव्यक्ति देना चाहता है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके प्रतिनिधि कलाकारों में अभिव्यक्ति पाती है। "जनता की उदात्त सांस्कृतिक चेतना उसके समृद्ध भावजगत के साथ उसके प्रतिनिधि रचनाकारों तथा कलाकारों में अभिव्यक्त होती है।" (शिवकुमार मिश्र, वही पृ० २०)। इसके लिये वह प्रतीक को स्वीकार करता है। प्रतीकात्मक विकास मानसिक विकास की भांतिमात्रात्मक नहीं होते बल्कि उनमें गुणात्मकता अधिक होती है। प्रतीक संवेगात्मक ध्वनि भाषा या प्रतीकात्मकता को ग्रहण करती है। प्रत्ययात्मक अवधारणा के अभाव में संवेग रचनात्मक नहीं हो सकता किन्तु भाषा का विकास मानव के गुणात्मक विकास का प्रतिफल है : मानव-भाषा ध्वनियों के समूह से निर्मित उसके चिन्तन का रूप है। मनुष्य का वास्तविक विकास उसकी भाषा का विकास है क्योंकि व्यक्ति इसके द्वारा ही अपने चिन्तन को अनुभव के स्तर पर उतार पाता है और रचनात्मक स्तर पर उसे सामाजिक विकास तथा मूल्यों की अवधारणा की चीज बनाता है। प्रतीकात्मकता और भाषिक अभिव्यक्ति के कारण ही धर्मकला और नीति, दर्शन आदि अपने मूल्य उदघाटित करते हैं। इस मूल्यात्मकता में मनुष्य अपने कर्तव्य-बोध से गुजरता चलता है।

समस्त मानवीय विद्याओं के कथन सामान्यीकृत होकर प्रस्तुत होते हैं। इस प्रक्रिया में उत्पन्न ज्ञान सम्बन्धी अनुभववादी का ही विकास विस्तार हो रहा होता है। सर्जन मानव व्यापार है और प्रत्ययात्मक स्तर पर ही उनका रूप निर्धारित किया जा सकता है यह जरुरी नहीं है कि सर्जन का पूरा बोध सृजनकार को हो किन्तु अपनी मानसिक क्रिया में वह अपनी दृष्टि के मुताबिक

जीवन की आलोचना कर रहा होता है इसीलिये सृजन को मानसिक व्यापार माना गया है। शिवकुमार मिश्र सर्जन को मानव-व्यापार और मानसिक प्रक्रिया के रुप मे मानते हैं। "सर्जन मूलतः मानव व्यापार है, संवेदनात्मक उद्देश्य, भावना, कल्पना और बुद्धि जिसके भावतत्व हैं। रचनाकार मानस की अपनी प्रकृति के अनुरुप न्यूनाधिक मात्रा में ये तत्व सर्जनव्यापार मे सक्रिय रहते हैं। . . . . . चूंकि सर्जन-प्रक्रिया विशुद्धतः मानसिक व्यापार है अतएव एक अर्थ मे वह रहस्यमय भी है। रहस्यमय ऐसा कि जिस विशिष्ट मानस में यह व्यापार घटित होता है उस मानस को भी उसकी सम्पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती। बहुत कुछ अनजाने ही घटित हो जाता है" (शिवकुमार मिश्रः पृ० ५७) किसी भी रुप में सृजन सामान्यीकरण और अनुभव तत्वों का विस्तार है। मनुष्य स्वभाव और विवेक से ही सृजनशील है:, अन्तर केवल जीवन के प्रति दृष्टि विशेष का होता है या कि उस सामूहिक जीवन-दर्शन का जिसके तहत उसने अपने समसामयिक जीवन को देखने परखने की कोशिश की है और कहा तक वह अपने युग के मूल्यों की अपेक्षा को जान-पहचान सका है और कितना वह समकालीन जीवन से अजनबी है। मनुष्य की सृजनात्मकता उसी के अनुकूल विज्ञान और दर्शन के द्वारा प्रत्ययों या धारणाओं की रचना करती है। ये प्रत्यय नवीन रूपों में बनते रहते हैं किन्तु संश्लेष के साथ। परम्परा में नवीनता का प्रत्ययात्मक दर्शन ही सृजनशीलता कही जा सकती है।

मानव का व्यक्तित्व हमेशा विकासशील होता है। इस विकास की क्रिया में उसकी सद्यः उत्पत्ति न होकर एक क्रमिक विकास होता है। इतिहास के साथ जिन असंख्य संवेदनाओं तथा बोध को वह प्राप्त करता है उसी का विस्तार करता रहता है। इतिहास पुरुष के रूप मे [illegible] कुछ प्राप्त [illegible] है, वह मात्र संचयात्मक नहीं [illegible] अपनी परम्परा [illegible] भी होता है। इस पूरी प्रक्रिया में मनुष्य [illegible] आरोह-अवरोह की तरह [illegible] करता चलता है, तभी वह सांस्कृतिक चरम मूल्यों को [illegible] में अपने को संलग्न कर पाता है। इस पूरी प्रक्रिया में मनुष्य, व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के राजनीतिक आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रयास का अनुशीलन भी करता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से [illegible] जगत को चेतना से निरपेक्ष होता है [illegible] मनुष्य वस्तु सत्ता को [illegible] सामान्य [illegible] स्वीकार करता है। यथार्थवादी होने के साथ दार्शनिक चिन्तन वास्तववादी हो सका। यह दार्शनिक चिन्तन भाववादी चिन्तन का खण्डन भी हुआ। वास्तव में वास्तववादी दर्शन मानव

के यथार्थ को अभिव्यंजित करने का महत्वपूर्ण सृजनात्मक द्रव्य बनकर सामने आया। "अपनी तथा जगत् की सत्ता के विषय में क्रमशः जो परिज्ञान मनुष्य को प्राप्त हुआ उसके मूल में यों तो समय-समय पर सामने आनेवाली नाना दार्शनिक चिन्ताओं एवं वैज्ञानिक निष्पत्तियों का योग है, किन्तु सबसे जबर्दस्त योग उन वास्तववादी दार्शनिक विचारों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का है जो संसार की भौतिक सत्ता को प्रतिपादित करते हुए १८ वीं, १९ वीं तथा २० वीं शताब्दियों में सामने आये और जिन्होंने भाववादी दार्शनिकों की इस मान्यता को करारी चोट पहुँचाई कि वस्तु जगत् और उसके यथार्थ का अस्तित्व मानसिक है, कि मनुष्य तथा जगत् के कार्यव्यापारों का संचालन कोई पारलौकिक सत्ता करता है, कि उसके नियमों का संज्ञान उसके बस की बात नहीं है, आदि आदि" (शिवकुमार पृ० ५०)। जब मनुष्य मानवीय स्वभाव की प्रेरणा से अन्वेषण करता है तो समस्त विशेषताओं को मूल्यों से सम्बद्ध करके देखता है। इसका कारण है कि मनुष्य अपने-अपने क्षेत्रों में समग्र मूल्यों से पूर्ण समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों की कल्पना को पूर्ण करना चाहता है। प्रत्येक मनुष्य की दार्शनिक दृष्टियों में अन्तर के कारण मूल्यों के प्रति मनोभाव में भी परिवर्तन होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन एवं साहित्य में वैराग्यवादी एवं आनन्दवादी दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती रही हैं। आज भी आदर्शवादी और यथार्थवादी चिन्तन का दबाव बराबर बना हुआ है। इस प्रकार अपनी चेतना की उपलब्धि में मनुष्य सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि करता हुआ सतत् गतिशील है और रचनात्मक स्तर पर मनुष्य के करीब पहुँच चुका है।

सांस्कृतिक मूल्यों के निर्धारण एवं उसकी सृजनशीलता के क्रम में अनिवार्य है कि साहित्यिक रचनाशीलता का भी निर्धारण किया जाय क्योंकि साहित्य मूल्यों की अभिव्यक्ति से ज्यादा स्वयं में मूल्य है। साहित्य अपने लालित्य बोधीय मूल्य होने पर भी कला के आगे की चीज है। साहित्य में कलात्मकता उसके विषय-विन्यास का एक तत्व मात्र है, सब कुछ नहीं। साहित्य मानव-जीवन का अनुभव जगत् है। साहित्यकार अपनी समग्र जीवनानुभूति को प्रत्यय और अवधारणा के स्तर पर जिसे ग्रहण करता है, उसी को अभिव्यक्त करता है और अभिव्यंजित भी करता है। रचनाकार एक प्रतिभाशील व्यक्ति होने के साथ वह

[illegible] [illegible] साहित्य में [illegible] सन्दर्भ
[illegible] [illegible] जीवन [illegible] अपने अनुभव की

है अत साहित्य में समसामयिक जीवन के सन्दर्भों की बात उठायी जाती है। साहित्य मे परिवेश अपनी परम्परा और भावी सम्भावना मे अभिव्यजित होता है। साहित्य की जीवनाभिव्यक्ति शाश्वत और सार्वभौम न होकर युगीन एव परिवेशगत सरलता एवं जटिलता के अनुरुप सरल से जटिल होती चलती है। अतः साहित्य मूल्यों की उपलब्धि में उपादान मात्र न हो कर अपने आप में मूल्य है। मनुष्य की भाषा उसकी जीवन चेतना है और इसी के साथ वह विकास भी करता है। मनुष्य भाषा के द्वारा विचार विनिमय ही नही करता अपितु वह भाषा में जीता है। भाषा के स्तर पर ही साहित्यिक चेतना विकासात्मक एव प्रवाहमान होती है जिसमें परम्परा का वहन भी है और नवीनता का समावेश भी।

रचना के स्तर पर रचनाकार के अनुभव के उतर जाने पर साहित्य तीन आयामों में नियन्त्रित हो जाता है। उसका पहला आयाम रचनाकार का युगीन जीवन होता है जो यथार्थ जीवन होता है। दूसरा आयाम वह है, जब रचनाकार ने अपने भाव जगत् मे जीवन के समस्त अनुभव को रचा और यथार्थ मे अनुभूति और प्रत्यय का प्रयोग करके अभिव्यजित किया। पुनः साहित्य का तीसरा आयाम वह है जो पाठक के मानस पटल पर जीवन-अनुभव के साथ उतरता है। साहित्य इस प्रकार इन आयामों से ही परीक्षित होता है। इन तीन आयामों पर आधारित होने के कारण उसमे परम्परा और सम्भावनाएँ बराबर बनी रहती है। साहित्यकार का चिन्तन प्रत्यय और अनुभूति से जुड़कर अनुभव का रुप ग्रहण कर लेता है। मनुष्य बौद्धिक प्राणी है, वह बुद्धि के द्वारा ही अवधारणाएँ ग्रहण करता है और जीवन का अनुभव करता है। इसीलिये वह सर्जनात्मक भी होता है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य यथार्थ से जुड़ता है और उसकी माप भी बुद्धि के द्वारा ही करता है। बुद्धि के बिना रचनाप्रक्रिया की स्थिति नहीं है। "रचना-प्रक्रिया के दौरान ही नहीं रचना-प्रक्रिया की स्थिति से पहले काव्य की व्यापक प्रक्रिया में भी बुद्धि की भूमिका निर्णायक और महत्वपूर्ण होती है"। (शिवकुमार मिश्र : पृ० ५१)। रचना अपने परिणमित रुप में सामाजिक वस्तु होती है। अब फिर पाठक तक पहुँचकर बुद्धि का व्यापार चलता ही रहता है। रचना कि प्रारम्भिक एव अन्तिम स्थिति में भी बुद्धि का योग आवश्यक होता है। इसी बौद्धिकता के कारण मनुष्य (साहित्यकार) यथार्थ की घटनाओं से प्रभावित एवं प्रतिक्रियान्वित होकर चिन्तन करता है और उसका अनुभूति के स्तर

पर मंथन करके मूल्यों के रूप में अभिव्यंजित करता है। साहित्य का उद्देश्य मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को प्रश्लेषित करना या उसको चरम मूल्यों की ओर ले जाने का प्रयास करना या जिन मूल्यों तक मानव पहुँच चुका है उससे आगे के मूल्यों तक उसे ले जाना है। क्योंकि "काव्य-प्रक्रिया वस्तुतः बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यान्तर का बाह्यीकरण है। इस बाह्य जगत् के निरन्तर सम्पर्क में रहते हुए कवि जीवनानुभवों की प्राप्ति करता है और यही जीवन का अनुभव उसकी रचना का मूलाधार कोश निर्मित करते हैं। कवि रचना प्रक्रिया में यों ही नहीं उतरता वरन् अपनी सारी शिक्षा दीक्षा, अपने संस्कारों, अपने स्वभाव के अनुरूप ग्रहण की गयी मूल्यचेतना से अनुशासित होता हुआ जीवन और जगत् के प्रति ही नहीं, कविता के प्रति भी अपना एक सुनिश्चित दृष्टिकोण लेकर उतरता है। जीवन के अथवा बाह्य जगत् के समूचे प्रसार में से वह इन्हीं बातों के तहत शनैः शनैः और निरन्तर एक प्रकार के चुनाव में निरत रहता है। वह बहुत कुछ को ग्रहण करता है और बहुत कुछ को छोड़ देता है" (शिवकुमार मिश्र : पृ० ५०)।

साहित्य युग के बदलते क्रम में हमेशा परिवर्तन और नवीनता को अभिग्रहित करता चलता है। मनुष्य की पट और अन्तर्दृष्टि जितनी गहरी होती-जाती है उसी के अनुपात में यथार्थ की पकड़ भी सघन होती जाती है। इस प्रकार साहित्यकार जीवन की जटिलता और संश्लिष्टता के क्रम में चेतना के अनेक स्तर से गुजरता है। साहित्य-सर्जना में व्यक्ति की सृजनशीलता उसकी अनुभूति, प्रतिभा एवं कल्पना का सम्मिलित प्रयोग, वस्तु की प्रतिक्रिया के साथ अभिव्यक्त होती है। यह अभिव्यक्ति भी रूप ग्रहण करती है और रूप ग्रहण के साथ वस्तु और रूप का यह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है, जो प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है। वस्तुतः अपने इस संघर्ष को मानसिक संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करके साहित्य अतीत और वर्तमान से भावी, संभावनाओं के साथ अन्तर्सम्बन्धित है। परिणामतः साहित्य समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की परिणति है तो समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की परिणति मानव-जीवन की संश्लिष्टता में साहित्य में ही हो सका है। साहित्य तक पहुँचकर समस्त सांस्कृतिक मूल्य अपनी अवयवपरकता से मुक्त होकर एकनिष्ठ विकास के लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं। रचनाकार मूल्यों को पकड़ता है, उन्हें मानव-जीवन के वर्तमान से जोड़ता है और उनसे उन अपेक्षाओं को भी मथता चलता है, जिनकी समाज की गति और उत्कर्ष एवं परिष्कार हेतु आवश्यकता होती है। यदि रचनाकार की विशिष्टता परम्परा के वहन में हो सकती है तो

मात्र परम्परा का सवहन साहित्यकार का अवमूल्यन भी माना जाता है। साहित्य अपने सृजनात्मक सातत्य मे सास्कृतिक मूल्यो का विकास और संश्लेषण भी है क्योंकि मूल्यों की स्थापना यदि साहित्य के माध्यम से हुई है तो मूल्यों को इसी के साथ तोड़ा भी गया और नये मूल्यों का अन्वेषण भी किया गया।

मनुष्य अपने जीवन-विकास में एक मूल्य को ग्रहण भी करता है और अनेक मूल्यों का टक्कर भी सहता चलता है। एकही साथ अनेक मूल्यों को स्वीकार करके चलना मानव का विशेष गुण भी है: साहित्य अपने समकालीन मानव के जीवन-मूल्यों को स्वीकार करता चलता है। वह एक साथ ही धार्मिक, आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक मूल्यों के साथ ही गतिमान रहता है। यही कारण है कि भारतीय वागमय मे एक साथ ही आध्यात्मिक एव भौतिक मूल्यों को ग्रहण किया गया। भारतीय साहित्य की विशिष्टता मे यदि उसका आध्यात्मिक एव अलौकिक मूल्य रहा है तो भौतिक मूल्यों की स्थापना भी भारतीय साहित्य मे वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगती है। सम्पूर्ण भारतीय वांगमय श्रेयस् एवं प्रेयस् मूल्यों के टकराहट मे गतिशील रहा है। रचनाकार नवीनदंशनों में ही सृजन-धर्मी होता है। कवि जब अपने विचार रुढ़ियों में फँस जाता है तो बिल्कुल रचना जगत् मे समाप्त हो जाता है। "भावों की प्रवहमान संगति की स्थापना हेतु जब आभ्यन्तर भाव-सम्पादन होने लगता है तब एक और विलक्षण बात होती है। वह है-सृजन। मूल प्रकृति के तल से आभ्यन्तर वास्तव कुछ विशेष उद्वेगों या प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित होकर जब भाव-सम्पादन पूर्ण हो जाता है, तब उसमे एक नया तत्व आ जाता है। एक ऐसा तत्व जो कदाचित प्रारम्भ में कथ्य नहीं था, किन्तु जो भावों की प्रवहमान सगति की स्थापना पूर्ण होते ही उसके भीतर उद्घाटित हो गया है" (गजानन माधव मुक्ति बोध : नयी कविता सं० जगदीश गुप्त वि० दे० ना० शाही अक ४)। रचना-प्रक्रिया एक खोज है और उस खोज का अभिग्रहण भी है। जब रचनाकार अभिव्यक्ति कर रहा होता है, उस समय वह नयी खोज भी कर रहा होता है। सत्यर्थे रचनाकार अपना बोध और चिन्तन भाषा में ही करता है। इस प्रकार वह रचना के माध्यम से अपनी सृजनशीलता का प्रयोग करता चलता है।

कृष्ण-काव्य की रचनाशीलता की परिकल्पना हेतु कुछ प्रश्नों और उनके उत्तर के साथ चलना उचित होगा। अलौकिक चेतना की पुरानी मान्यता के साथ

पूरे भक्ति कालीन साहित्य के ऊपर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। प्रथम प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति कालीन काव्य भगवान को समर्पित काव्य है? उसमें लौकिकता नहीं थी कि वह लौकिक काव्य नहीं कहा जा सकता? दूसरा प्रश्न है कि क्या कृष्ण काव्य भक्ति कालीन आन्दोलन के साथ राजनीतिक प्रतिक्रिया मात्र है या उसकी तत्कालीन सामाजिक भूमिका है? तीसरा प्रश्न उठता है कि क्या इन भक्तों ने व्यक्तिगत अलौकिक उपलब्धि को केन्द्र मानकर रचना की या अपनी चेतना का सामयिक अपेक्षाओं के क्रम में सामान्यीकरण और वस्तुनिष्ठीकरण किया? क्या उनकी भक्ति स्वच्छन्दता उनके जनवादी आग्रह का परिणाम नहीं थी? चौथा प्रश्न है कि अपनी परम्परा में कृष्ण भक्त कवि नयी चेतना की खोज में संलग्न नहीं था? पाँचवाँ प्रश्न है कि रीतिकाल के शृंगारी काव्य की लौकिक पृष्ठ भूमि में क्या इन कृष्ण भक्तों की चेतना का योगदान भावी सम्भावना के रूप में नहीं था? आदि-आदि। इन प्रश्नों के साथ कृष्ण-काव्य की रचनाधर्मिता को वास्तविक साहित्य-सन्दर्भ और जन-जीवन के सन्दर्भ में देखना उचित होगा। आगे विभिन्न अनुशासनों में उसकी प्रवृत्ति और मूल्यों को निर्धारित किया जाना अपेक्षित है।

भक्ति कालीन काव्य-रचना-प्रक्रिया को सभी ने लौकिक जीवन के सन्दर्भ में मूल्यांकित करने का प्रयास तो नहीं किया है, किन्तु उसको एक चेतनागत आन्दोलन के रूप में प्रायः सभी लोग मानते हैं। यह आन्दोलन है चेतना का। अपने में जागृति का। कुछ ऐसी परिस्थितियों के बीच से उभरनेवाली चेतनात्मक जागृति जिसने एक लम्बे अर्से से जातीय जीवन की चेतना को कुण्ठित कर रखा था। जीवन की कुण्ठा में प्रभुवर्ग के पहलदार जनों के हाथ में रूढ़ियों के हाथ में सिमट जानेवाली भारतीय चेतना युग की अपेक्षा में बदलने की कोशिश कर रही थी। उसे ऐसा करने के लिये उत्साहित किया जा रहा था। युग की पहचान को लेकर चिन्तकों का एक वर्ग सामने आया जिसने आक्रमण नहीं किया, आन्दोलन किया। आन्दोलन सदा अगत्त कारण के लिये नहीं होता और न बैठे-बैठाए बिना कारण ही हो जाया करता है। गतिहीन होती हुई लम्बे अर्से से समस्याओं में फँसी जिन्दगी को बदलने की जिज्ञासा ही आन्दोलन का रूप लेती है। रचनाकार जीवन का समीक्षक होता है जीवन के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि रखता है फिर अपने युग का भरपूर पहचान करता हुआ अपने दायित्व का बोध करता है। वह अपनी अनुभूति को अनुभव का स्तर

प्रदान करके अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना देता है यहाँ उसका विशिष्ट एवं उदात्त सामान्यीकरण होता है। चूँकि भक्ति कालीन भक्तों ने हमारे सामने काव्य छोड़ा है जो प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे भक्त रहे हो या न रहे हो कवि तो अवश्य ही थे क्योंकि कविता तो उनका साक्ष्य है। भक्ति उस काव्य की अन्तर्वस्तु है। भक्ति के भीतर ही उन रचनाकारों ने अपने जीवन के अनुभव को अभिव्यजित किया है। वह मध्यकाल की अपनी जरुरत थी। भक्ति और धर्म के भीतर ही जीवन की विविध अनुशासनगत चेतना का विकास हुआ। क्योंकि यह उस युग की आवश्यकता थी। "मध्य युग ने धर्म, दर्शन के साथ विचार धारा के अन्य सभी रुपों, दर्शन, राजनीति, विधिशास्त्र को जोड़ दिया, और उन्हें धर्म दर्शन की उपशाखाएं बना दिया। इसलिये उसने हर सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन को धार्मिक जामा पहनने के लिये विवश किया। आम जनता की भावनाओं को धर्म का चारा देकर और सब चीजों से अलग रखा गया। इसलिए कोई भी प्रभावशाली आन्दोलन आरम्भ करने के लिये अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक था" (शिवकुमार मिश्र : भक्ति-काव्य और लोक जीवन पृ० २)। ऐसा होता है कि धर्म एक विशेष स्थिति मे जीवन की समग्रता को अपने में समेट लेता है। दामोदरन के विचार को स्वीकार करके यह तय पाया जा सकता है। "अपने विकास की एक विशेष अवस्था मे धर्म सामाजिक गुण प्राप्त कर लेता है, और इतिहास की आर्थिक और सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला बन जाता है। इसी रुप मे आर्यों के देवताओं ने जो आरम्भ में प्रकृति की शक्तियो का मूर्तिकरण थे, सामाजिक महत्व और सामाजिक गुण अर्जित कर लिए। इस रुपान्तरण से लोगों को एक हद तक सान्त्वना और काल्पनिक सुख भी मिला और जीवन की कठिनाइयाँ झेलने में उन्हें आसानी मालूम हुई" (शिवकुमार मिश्रः वही-पृ० ३ उद्धृत)। अपने धार्मिक जामें के भीतर ही वहीं यह एक चेतनात्मक आन्दोलन था और इसीलिए यह काव्यान्दोलन था। इन भक्तों के कवि और उनकी रचना के काव्य होने मे कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि इन भक्तों ने भक्ति, समर्पण और अराधना से अपने को जोड़ा अतः इन्हें साधक क्यों न माना जाय? यह बात वे ही लोग कहते हैं जो रचनाकार के युगीन दायित्व तक पहुँचना नही चाहते। रचनाकार युगीन मूल्यों की स्थापना हेतु डिक्टेटर नहीं हो सकता और कि वह युगीन मूल्यों की

अपेक्षा और उसके अपेक्षित स्वरूप को प्रस्तुत करता है। यही नहीं रचनाकार उसके अनुरूप मानस भी तैयार करता है। उर्वरता उत्पन्न करता है। आम जनता के गले उतारने के लिये ही वह अभिव्यक्ति की यथार्थता को और यथार्थ की अभिव्यक्ति को अपेक्षित रूप में पेश करता है या मुलम्मे के नीचे उसे आम जनता के लिए अनुरूपता प्रदान करता है। भक्ति भी जीवन की मूल्यात्मक अभिव्यक्ति हेतु मुलम्मे के रूप में प्रयोग की गयी। यदि ज्यादा आग्रह हो तो उन्हें भक्त कवि और उनके काव्य को भक्तिकाव्य कहा जा सकता है क्योंकि भक्ति अन्तर्वस्तु है। प्रायः यह देखा जाता है कि जो प्रेम करता है या श्रेष्ठ प्रेमी है वह उच्च कोटि की या कोई भी प्रेम गीत नहीं लिखता है। लेकिन प्रेम-गीत लिखनेवाला उच्चकोटि का प्रेमी हो ऐसा सर्वथा सत्य नहीं है। लैला और मजनू का प्रेम प्रसिद्ध है किन्तु उनके नाम से कोई प्रेम-गीत नहीं मिलता, किन्तु उनपर प्रेम-गीत खूब मिलते हैं। कृष्ण-भक्त नागरी दास भी (यद्यपि वे रीति काल के कवि हैं।) लैला और मजनूँ के इश्क को न भूले—

चली कहानी खलक में, इश्क कमाया खूब।
मजनूं से आसिक नहीं, लैली सी महबूब॥

तात्पर्य यह कि इस बात का साक्ष्य हमारे पास नहीं है कि वे भक्त भक्ति में सराबोर रहते थे किन्तु उनके जीवनपरक अनुभव की अभिव्यक्ति कविता के रूप में साक्ष्य है। अतः इन भक्तों को और कृष्ण-भक्तों को कवि और उनकी रचना को काव्य मानकर ही चलना उचित है।

क्या भक्ति आन्दोलन एक प्रतिक्रिया मात्र है? जो मुसलमानों के आक्रमण या मुसलमानी राज्य की स्थापना के बाद सैनिक आक्रमण के रूप में हुआ। जब हमारी सेना हार गयी तब इन भक्त कवियों ने कविता को हथियार बनाया या कि भक्ति का बहाना बनाकर कहीं जा छिपे और ईश्वर की शरण में जा गिरे। भक्ति आन्दोलन अपनी जातीय चेतना में क्रमिक विकास का परिणाम है। रामचन्द्र शुक्ल भी इस भक्ति के विकास को भारतीय चेतना में देखते जरूर हैं, लेकिन इस काव्यान्दोलन को मुगलों के आक्रमण के कारण हताश जनता की प्रतिक्रिया मात्र मानते हैं। वस्तुतः इस परिस्थिति से मुक्ति पाने के लिये अपने भीतर की कुण्ठा और नतिहीनता तथा विभेद की स्थिति को अपने ही भीतर जला कर समाप्त कर देने का प्रयास ही भक्ति कालीन काव्यान्दोलन का कारण है। शिवकुमार मिश्र ने भक्ति आन्दोलन को दो निष्कर्षों में विश्लेषित किया है।

पहले निबन्ध में उन्होंने दामोदरन के विचार को इस आन्दोलन के समर्थन हेतु आधार बनाया है। दूसरे में हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार को केन्द्रबिन्दु बनाया है। दोनों प्रकरणों में उन्होंने रचनात्मक प्रयास के अनुरुप यथार्थ के अनुरुप विचार व्यक्त किया है। "इस आन्दोलन में पहली बार राष्ट्र के एक विशेष भूभाग के निवासी तथा कोटि-कोटि साधारण जन ही शिकरत नही करते, समग्र राष्ट्र की शिराओं में इस आन्दोलन की उर्जा स्पन्दित होती है, एक ऐसा जबरदस्त ज्वार उफनाता है कि उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम सब मिलकर एक हो जाते हैं" (शिवकुमार मिश्र : पृ० १)। पूरे भारत मे एकनिष्ठ विकास को निर्धारित करने के बाद वे कारण ढूढ़ते है। "जहाँ तक मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सवाल है, वह मूलतः एक धार्मिक सास्कृतिक आन्दोलन के रुप में सामने आता है, सच पूछा जाए तो, अधिकाशतः एक धार्मिक आन्दोलन के रुप मे ही उसकी पहचान हमे होती है। अनेक लोगों ने उसके इस मूलवर्ती धार्मिक चरित्र के नाते उसकी प्रगतिशील सामाजिक अन्तर्वस्तु की ओर सम्यक ध्यान नही दिया है, धर्म को साधारण जन को बरगलाने तथा भरमानेवाली प्रवृत्ति मानते हुए उसे एक मध्यकालीन दकियानूसी प्रवृत्ति को उभारने वाला तथा इस प्रकार साधारण जन को उसकी आवश्यक सामाजिक चेतना से परागमुख करने वाला आन्दोलन या अभियान मानकर उसकी व्याख्या की है। इस प्रकार के विद्वान न केवल युग विशेष के वास्तविक चरित्र को सही रुप से पहचानने से इन्कार करते हैं, वे किसी युग के अन्तर्विरोधों तथा उनके पीछे काम कर रही सामाजिक आर्थिक शक्तियों को भी न पहचानने के दोषी हो जाते हैं" (शिवकुमार मिश्र : पृ० २)। वे आगे इस बात को स्पष्ट करते हुए मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन को साधारण जनता की सामाजिक अस्मिता के सवाल को प्रधान रुप से सामने लाने वाला तथा साधारण जन को मानसिक परितृप्ति और सन्तोष देने वाला तथा सारे अन्तर्विरोधों को लिये साधारण जनता से जुड़ने वाला माना है। और इसीके साथ उसके सही पहचान की बात उठायी है।

भक्ति आन्दोलन के दूसरे प्रकरण में शिवकुमार ने काव्य रचना की प्रतिक्रिया वादिता का विरोध किया है और इस बात की स्थापना से वे भक्ति आन्दोलन के कारण की सही खोज करने मे व्यस्त हुए है। "कोई भी महान साहित्य महज प्रतिक्रिया की उपज नही हुआ करती, महान रचनाशीलता अपनी खुद की जमीन से जुड़कर ही सामने आती है तथा अन्तरात्मा की मुक्त, प्रसन्न

और सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुआ करती है (शिवकुमार मिश्र पृ० १७)। इस स्थापना के साथ "अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा कि आज है" (हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० ८)। मिश्र जी ने भक्ति आन्दोलन की चर्चा को आगे बढ़ाया है। बारह आना जातीय चेतना के विकास क्रम में भक्ति-आन्दोलन सामने आया और चार आना अभी भी इस्लामी अतिवाद के विरुद्ध उपजी हताश प्रतिक्रिया की स्वीकृति ही है। क्योंकि द्विवेदी जी ने भी इसी चार आने को स्वीकृति दी है। इस्लाम के आगमन ने भारतीय धर्ममत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार की जरुरत महसूस हुई।" (वही पृ० २५)।

इस चार आने की समस्या को स्पष्ट करते हुए मिश्र जी ने यह स्वीकार किया कि "भक्ति काव्य की जीवन्तता तथा शक्ति का स्रोत और कुछ नहीं, वह लोक जीवन ही है जिसे इन भक्त-कवियों ने खुली आँखों से निहारा तथा उसके समूचे वैविध्य और व्यापकता को अपने रचनाकार मानस में आत्मसात किया" (वही शिवकुमार मिश्र : पृ० ७८)। इसी लोक की भाव भूमि पर दक्षिण से आनेवाला भक्ति आन्दोलन ठोस आधार पर आधारित हो सका और उसकी जीवन्तता हर चुनौती पर बनी ही रही। यहीं से द्विवेदी जी का चार आना वाला सवाल भी पूरा हो जाता है। "लोक सामान्य की भाव-भूमि पर उपजी भक्ति की महती प्रेरणा का ही परिणाम था कि देश इसलाम जैसी जीवन्त धार्मिक चेतना की चुनौती झेल सका। यही नहीं, इस भक्ति ने बिखरते समाज और अवांछित साधनाओं की ओर गुमराह होती हुई सामान्य जन की आध्यात्मिक आकांक्षाओं को आस्था का एक जीवन्त टिकाऊ आधार प्रदान किया। समाज के समक्ष नये और उदात्त लक्ष्य प्रस्तुत किये और उसके दीन दुर्बल कोटि-कोटि जनों को आत्म सम्मान के साथ अपनी खुद की जमीन पर खड़े रह सकने का साहस प्रदान किया। .... दक्षिण से आती हुई पयस्विनी का उत्तरभारत की लोकभक्ति की धारा से संगम हुआ। इस नये प्रवर्त्तन का सारा श्रेय जाता है रामानुजाचार्य, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य जैसे क्रान्ति द्रष्टा आचार्यों को" (शिवकुमार मिश्र : पृ० २४)।

वस्तुत· भारतीय संस्कृति के ऊपर जातीय जीवन के क्रम में वाह्याभ्यन्तर खतरा उपस्थित था। जीवन इस देश की भीतर की परिस्थितियो में ही विखण्डित हो रहा था। मुसलमानों के द्वारा सांस्कृतिक खतरा एक चुनौती था। खतरा तो अपने ही समाज में प्रातीयता, जाँति-पाँति, भेद-भाव आदि के रुप मे वर्तमान था। हमारी चेतना अपनी मिट्टी से नहीं जुड़ रही थी। इन परिस्थितियो ने वाध्य किया था कि लोग अपने समाज में ही एक दूसरे से कटे हुए महसूस करें। मुसलमानो का प्रयास तो वाद की चीज थी। अभी तो आवश्यक था कि वाह्य खतरे से ज्यादा अपने भीतर के खतरे की पहचान की जाय। इन भक्त कवियो को यह वाह्याभ्यन्तर खतरा ज्ञात था सूर ने तो इस ओर अपनी रचना मे दृष्टि डाली है। विनय के पद में वे कहते हैं—

> अव कैं राखि लेहु भगवान।
>
> हौं अनाथ वैठ्यौ द्रुम-डरियां परिधि साधेवान।
>
> ताके डर त भाग्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
>
> दुहु भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उवारै प्रान?
>
> सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छुट्यौ संधान।
>
> **सूरदास सर लग्यौ सचानहि, जय-जय कृपानिधान॥** (सूरसागर पद ९७)

यदि इस वाह्याभ्यन्तर के घहराते हुए संघात को व्यक्तिमन मे न देखकर सामाजिक मन में उतारें तो भारतीय जीवन पर वाह्याभ्यन्तर खतरे का प्रतिनिधित्व इस पद में मिल सकता है। इसका विकल्प लौकिक भाव भूमि पर उस ईश्वर, कृपानिधान में जाकर केन्द्रित होता है जो तत्कालीन युग का अपेक्षित चरम मूल्य है। यही चरम मूल्य समस्त जीवन की उर्जा को आकार दे सका है। यह भगवान व्यक्तिगत सम्बन्धों के वीच स्थापित हुआ। व्यवहारिक जीवन के ही क्रम में इन भक्तों ने ईश्वर में प्रतिपादित सात्विक एवं नैतिक चेतना को मूल्य के स्तर पर पाया। ईश्वर को मानव के पास उतार कर इस युग मे मानव को सात्विक मूल्यो में बाँध देने की कोशिश की गयी। यथार्थ जीवन को लोकजीवन के रुप में प्रतिष्ठा दी गयी। इसी के परिणामस्वरुप भक्ति कालीन काव्यान्दोलन एक सुदृढ़ आधार या जमीन पा सका।

इस काव्यान्दोलन को लोक जीवन की पीठिका पर आसीन करके ही उसकी रचनात्मकता और मूल्यात्मकता का निदर्शन किया जा सकता है। उसकी

लौकिकता को प्रमाणित करके ही सर्वो काव्य की परख हो सकती है। यों हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय श्रेयस् एवं प्रेयस् मूल्यों की टकराहटमें गतिशील रहा है। पारलौकिक मूल्यों के अस्तित्व को स्वीकार किए जाने पर भी लौकिक मूल्य एवं मानवमूल्य विकसित होते रहे हैं और अन्त में साहित्य प्रकृति एवं मानव जीवन से जुड़ता गया। मानव जीवन के लौकिक मूल्यों को स्वीकार करने के साथ, युग की अपेक्षाओं के साथ ही समस्त मानव मूल्य आभिजात्यता से जनसामान्य के मूल्य की ओर बढ़ते गये। अपने प्रारम्भिक अवस्था में ही भारतीय साहित्य अति भौतिकता और अति पारलौकिकता की दो अतिवादी सीमाओं में प्रवहमान रहा है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के भक्ति कालीन साहित्य में धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच मानवमूल्य उभर रहा था। ईश्वर का प्रत्यक्ष मानवदेहधारी के रूप में जीवन ग्रहण करना उभरते मानव-मूल्य का ही परिणाम है। अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव-जीवन और साहित्य समस्त सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि की ओर विकासशील रहे हैं। लौकिकता मात्र पश्चिम की देन नहीं है अपितु वह भारतीय चेतना की अपनी विरासत है।

भक्ति कालीन कृष्ण भक्त कवियों मे लौकिकता का आग्रह खूब था। अगर धार्मिक आग्रह को छोड़कर देखा जाय तो यह सर्वथा सत्य जाहिर होगा। क्योंकि रचनाकार मनुष्य के हित की चिन्ता से प्रेरित होकर ही रचना करता है। इसी संसार में इसी देह के साथ मानव को केन्द्र मानकर ही रचनाकार रचना में प्रवृत्त होता है। किसी न किसी रूप में रचनाकार मानववादी चिन्ता से जुड़ता है। यदि आज की मानववादी दृष्टि से हम साहित्य की परख करें तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य अलौकिक आनन्द की चीज नहीं है। उसकी अस्मिता लौकिक होने में है। "मानववादी दृष्टि में साहित्य किसी अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द की वस्तु नहीं हो सकता. उसके लिए सौन्दर्यात्मक अनुभव प्राकृत वस्तु है। .... मानववाद मानवोपरि सत्ता में आस्था और अपर जीवन की कामना के लिये धर्म का निषेध करता है, लेकिन धार्मिक कला को केवल उसी लिये अस्वीकार नहीं करता है : क्योंकि, दिव्याराधन को समर्पित साहित्य भी इसी जीवन में मानवीय दुख की चिन्ता से अनुप्रेरित होने की अवस्था में लोकपरक होता है (जैसे कि हिन्दी का भक्ति साहित्य")। (नवल किशोर : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, पृ० ९) कृष्ण-काव्य यदि दिव्याराधन को समर्पित

है तो क्या कृष्ण भक्तों की रचना मे लौकिक चेतना का स्वीकार उसमे नहीं है ?

* * * *

बैन मुख सो बोल, नेकु घूंघट खोल—

यह सुनि ग्वालिनी मन हि मुसकाति है।

कुचनि अंचल ढाँकि, लगी मोतिनि पाँति

भरे रस कलस दोउ, मदन ललचाति है॥ (कुम्भन दास, पद-१४)

यहाँ एक यथार्थ जैविक प्रक्रिया और यौवन की चेतना चित्रित हुई है भले ही इसके साथ गोपी जुड़ जाय। या

ऐसौ निरमोही, या सों भूलि न बोलियैं री।

* * * *

चंद प्रीति की रीति कठिन है, काम परे हित-चित सब लोलियै री॥

(चन्द सखी का जीवन और साहित्य : पद—११०)

भले ही गोपियाँ कृष्ण के सन्दर्भ में कह रही हों किन्तु यह इस ससार में ही प्रेम के सन्दर्भ में एक परिणाम परक नीति वाक्य है। लौकिक प्रेम की ही आध्यात्मिक व्यंजना यहाँ हुई है।

श्रीकृष्ण एक सामान्य बच्चे की भाँति ही दूध पीते हैं। प्राय: बड़ी अवस्था तक बच्चा माँ का दूध पीता है किन्तु माँ सुरक्षा के भाव से मना भी करती है। लोक प्रचलित है कि ज्यादे उम्र तक दूध पीने से बच्चे का दाँत खराब हो जाता है। यहाँ माँ के वात्सल्य-भाव के साथ पुत्र के प्रति माँ का सुरक्षात्मक भाव भी स्पष्ट हुआ है जो सामान्य ससारी माँ और पुत्र के सम्बन्ध को भी ध्वनित करता है।

बैठे श्याम मात की कनियाँ, पियत दूध सुन्दर सुख दनियाँ॥

बार-बार यशुमति समुझावे, हरि सों अस्तन पान छुड़ावे।

कहति श्याम तू भयों सयानो, मेरो कह्यो लाल अब मानों॥

* * * *

जे हैं दाँत बिगरि सब तेरे, अजहूँ छाड़ि कह्यो करि मेरो॥

(ब्रज विलास : ब्रजवासी दास कृत)

इस प्रकार के अनेक उद्धरणों के [illegible] लौकिक यथार्थ [illegible] प्रतिपादन [illegible] अपेक्षित है और इसका अभाव कृष्ण-काव्य में नहीं है। भक्त कवि व्यास की रचना से कुछ बातों की ओर संकेत किया जा सकता है। उस समय बेटी बेचने की प्रथा का संकेत एवं झूठी स्त्री लज्जा की ओर कवि का ध्यान भक्ति के साथ गया है। इन वास्तविकताओं को व्यंजित करके कवि ने यथार्थ की विशृंखलताओं और संकीर्णताओं को समाप्त करने का प्रयास किया है :

बेटी बेचत संक न मानत। दिन-दिन मोल बढ़ावें। —पद २९३
मुँह पर घूंघट नैन नचावें। बातन ही की लाज जनावें॥
अपने ही मुँह सुपत कहावें। जासहि लीन भरतार न भावें॥
बाहिर पहिर-ओढ़ि दिखरावें। भीतर विष की बेलि बढ़ावें॥
सोई सुहागिल सती कहावें। धुन-धन जोरहि भाँति रिझावें॥
अंजन मंजन के भरतारहि नचावें। व्यास जू साँचे सुख नहि पावें।

क्या रचनाकार को सूक्ष्म जीवन की जानकारी नहीं है? निश्चय ही व्यभिचार में फँसी आदर्शवादिता से वह वाकिफ है और स्पष्ट ढंग से उसे व्यक्त कर देता है।

सूर के सम्बन्ध में विचार करते हुए शिवकुमार ने कृष्ण-काव्य की लौकिकता की ओर संकेत किया है जो उनके विश्लेषण में भले ही सूर से सम्बन्धित है किन्तु उसका सम्बन्ध पूरे कृष्ण-काव्य से भी जा बैठता है। "सूर और उनके समान धर्माओं की कविता लोक-जीवन से गृहीत अनुभूतियों की कविता है, और इसीलिये लोक-जीवन को प्रभावित करने में वह इतनी सक्षम भी है। इस कविता के सारे आध्यात्मिक संकेतों को निकाल दिया जाए, उसके साम्प्रदायिक आशयों तथा धार्मिक दार्शनिक निरूपणों को भी तरजीह न दी जाये, उसे सहज, संसार-सागर की रूप तरंगों से प्रभावित होने वाली, उसी से प्रेरणा लेने वाली, विशुद्ध मानवीय और विशुद्ध लौकिक अनुभूतियों की कविता के रूप में स्वीकार किया जाय, तो भी लोक जीवन के बहु आयामी सौन्दर्य का जो अक्षय कोष उसमें है ; मानवीय जीवन के हर्ष विषाद का जो आख्यान उसमें है ; लोक जीवन की जितनी खरी और सटीक पहचान उसमें है ; मात्र इन सब के बल पर वह किसी भी सहृदय के मन पर अमिट छाप छोड़ने में समर्थ है" (शिवकुमार, पृ० ७९)। यदि कृष्ण-काव्य को उदाहरण के साथ देखा जाय तो अनेकानेक स्थल पर उसकी लौकिकता या कि वस्तुनिष्ठता जाहिर हो जाती है। यद्यपि

विभिन्न अनुशासनों के भीतर कृष्ण काव्य का मूल्यात्मक निर्धारण किया ही जाएग ये कृष्ण भक्त जब हौं (मैं) का प्रयोग करते हैं उस समय वे जन सामान्य का प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं। नरोत्तम दास ने सुदामा के माध्यम से उस युग की गरीबी का यथार्थ चित्रण किया है। यह दिव्याराधन के माहात्म्य की अभिव्यंजना से ज्यादा जी गयी जिन्दगी के सामने जीवन को परसना है।

सीस पगा न झगा तन में प्रभु जाने को आहि वस केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी-लटी दुपटी अरु पाँव उपानह की नहिं सामा॥

(हिन्दी काव्य सग्रह, पृ० १२३)

यह जन सामान्य की यथार्थता है तो विकल्प भी साथ है मनुष्य को चरम मूल्यों तक पहुँचाने वाला चरम मूल्य ईश्वर जन-नेता। —

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करि कै करुना निधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयौं-नहिं नैनन के जल सो पग धोये॥ —वही पृ० १२४।

दरिद्रता की सीमा रेखा से लटकती जिन्दगी को ऐसी ही उदात्त करुणा की आवश्यकता है किन्तु कवि को जन-सामान्य का मौलिक अधिकार भी भली प्रकार मालूम है। यदि जन-जीवन का कष्ट दूर नहीं होता तो ईश्वर की मित्रता भी किस काम की! वह गरीबी से मुक्ति को मौलिक अधिकार मानते हुए कह बैठता है। जन के लिये माँगने में सकामता नहीं निष्कामता ही तो है। —

जो पै सब जनम या दरिद्र ही सतायो,
तो पै कौन काज आइ है कृपानिधि की मित्रई॥ वही पृ० १२४।

सीधा प्रश्नचिह्न है ईश्वर पर और सवाल है जन-जीवन के मौलिक अधिकार का।

कहीं माता यशोदा राखी बाँधकर आनन्दित होती हैं जो त्योहार का आनन्द है, सबका आनन्द है। —

मात जसोदा राखी बाँधति बल के अरु श्रीगोपाल कें। —छीत स्वामी : जीवनी तथा पदसंग्रह पृ० ३०। तो कहीं बनभोजन के साथ सामूहिक आनन्द है

भोजन करत नन्दलाल, संग लिये ग्वाल बाल करत विविध ख्याल, बंसीवट छैया। वही पृ० ३२। सामान्यजन की भूख का पता तो नन्ददास को ही है। वे सवेदना के उस स्वर तक पहुँच चुके है, जहाँ भूख की छटपटाहट है।

मह कठिन को जस असा सो रीति सुनी है — नन्द दास ग्रंथावली दोहा ५

यही नहीं वस्तु जगत की समझ भी उन्हें है। बिना वस्तु जगत की समझे दृष्टि संसार नहीं होती और फिर मनुष्य अपने जीवन में किसी चीज का अधिकारी भी नहीं होता।

> बिनु अधिकारी भये नहिंन वृन्दावन सूझे।
> रेनु कहाँ ते सूझ जब लौं वस्तु न बूझ ॥ पंचम अध्याय, दो० ३४।

जन जीवन की वेदना की पहचान और वस्तु जगत् की समझ इन भक्तों को खूब है। इसलिये उनका ईश्वर जन का ईश्वर है। गरीबों की गरीबी का निवारण ही लक्ष्य है जो बहुत से भारतीय लोक-जीवन से सम्बद्ध है। सूर ने अपने ईश्वर के विनय के पदों में इसी विचार और जनाग्रह को व्यक्त किया है

> जन की और कौन पति राखै ?
> जाँति-पाँति कुल कानि न मानत बेद-पुराननि साखै।
>
> —सूर सागर, पद, १५।

> जब-जब दीननि कठिन परी।
> जानत हौं, करुनामय जन कौं तब-तब सुगम करी। —पद, १६।

> ठकुरायत गिरिधर की साँची। —पद, १८।
> स्याम गरीबनि हूँ के गाहक। पद, १९।
> नाथ अनाथनि के संगी। —पद, ३१।

इस प्रकार सूर यदि जन को जानते हैं तो भेद-भाव दूर कर सच्चे, ईमानदार सेवा करने वाले, सच्चे रक्षक कृष्ण की भी पहचान रखते हैं क्योंकि ईमानदार नेता के अभाव में जन की दुर्दशा से सूर वाकिफ हैं। इन तमाम बातों से कृष्ण-काव्य की जनवादिता और वस्तुनिष्ठता साबित की जा सकती है। ऐसा करके देखना ही उचित जान पड़ता है। यदि शिवकुमार मिश्र के शब्दों में कृष्ण काव्य की सार्वजनीनता स्वीकार करके चलें तो उपरोक्त उदाहरण का शमन इसी चेतना में होता है फिर उसे सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। "यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य फिर वे ऊँची जाति के हों अथवा नीची जाति के, समान हैं, इस आन्दोलन का केन्द्र विन्दु बन गया। जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आतंक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले

आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एक जुट किया। इस प्रकार मध्य युग के इस महान आन्दोलन ने केवल विभिन्न भाषाओ और विभिन्न धर्मों वाले जनसमुदायों की एक सुसम्बद्ध भारतीय संस्कृति के विकास मे मदद की, बल्कि सामंती दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध सयुक्त संघर्ष चलाने का मार्ग प्रशस्त किया" (शिवकुमार मिश्र : पृ० ६)। भक्त कवियों ने भक्ति में ईश्वर को आलम्वन बनाया किन्तु सामान्य मनुष्य के धर्म पर उसे खड़ा किया। अपने रचनात्मक रुप में इन कृष्ण भक्तों ने साधारण जन को ही आलम्बन वनाया। उनका हृदय केवल प्रगीत काव्य की रचना के लिए ही छटपटा नहीं रहा था अपितु उसकी छटपटाहट लोक-हृदय की छटपटाहट थी जिसे इन कवियों ने व्यापक मानव-जीवन के बोध के साथ अपने अनुभव पर उतारा और उसे अभिव्यजित किया। सरस वाणी में उन्होंने कलात्मक संतृप्ति और सन्तोष न पाकर मनुष्य जीवन की सन्तृप्ति बना दिया। अपनी इच्छा, सवेदना, दुःख और जिज्ञासा को सबकी इच्छा, सवेदना, दुःख और जिज्ञासा बनाकर इन कवियों ने प्रस्तुत किया। नये सन्दर्भ में कुछ नये की खोज करते हुए इन भक्तों ने स्वाभिमान के साथ जन-जीवन की वेदना को पहचाना और अभिव्यक्ति दी। बडे साहस के साथ यह कहने में सूर को हिचक नहीं, कोई दवाव नहीं क्योंकि वे तो सामाजिक क्रान्तिद्रष्टा है। क्रान्तिकारी तो मरना जानता है, डरना नहीं किन्तु सच्चा प्रेमी भी वही होता है। तभी अपने ईश्वर को भी ललकार देता है

अब में नाच्यौ बहुत गुपाल। —पद, १५३।
जो हम भले बुरे तौ तेरे ? —पद, १७०।
आज एक एक करि टरिहौं।
कै हमहिं क तुमहि माधौ अपने भरोसैं लरिहौं॥

कितना भरोसा है सूर को। बड़ा आत्मबल है लड़ जायँगे। अपनी करवा लेंगे।

भक्ति आन्दोलन ने जीव के तिरोहित आनन्द को बाहर लाया। पारिवारिक और मानवीय स्तर पर ही उस आनन्द की भित्ति खड़ी की। अपनी कठिनता मे उन भक्तों ने परमानन्द का अनुभव किया और उसे जातीय जीवन में उतारा। इसीलिए "ऐसा लगता है कि आध्यात्मिकता और लौकिकता के बीच कहीं सन्धि रेखा पर ही खड़े होकर इन भक्ति कालीन साधकों ने ब्रह्म और जीव के सनातन

सम्बन्ध की अहर्निशि समान स्तर पर रससिक्त और पल्लवित होते अनुभव किया था। जगत् और जगत् से सम्बद्ध जीवन की नितान्त कठिनतम परिस्थितियों के बीच भी उन्होंने उस परम शक्ति के परमानन्द स्वरूप का अनुभव किया था जहाँ जगत् की सांसारिकता और ईश्वर की महान् करुणा दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती सी लगती है। भक्ति आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने अपने क्षेत्र में वह सब ले लिया जो मानवीय है, सहज है, स्वाभाविक है और दैनन्दिनीय और अनिवार्य है। उन सबको स्वीकार करके उसने उसके प्रति समर्पित कर दिया जो इस जविक जगत् को अपनी लीला विस्तार के लिये चुनता है या अवतरित करता है और इस पूरे जागतिक रचना को अपनी इच्छा शक्ति के रुप में आविर्भूत करके स्वयं जगत् और जीव के माध्यम से अपने को ही देखने के लिए द्वैत पैदा करता है" : (सूर साहित्य सन्दर्भ, सं० लक्ष्मी कान्त वर्मा भूमिका पृ० १—२)। वस्तुतः कृष्ण चरित्र और कृष्ण भक्ति का विकास लोक-चेतना का ही परिष्कृत रुप है जिसको सामयिक क्रान्तिकारी भूमिका में प्रस्तुत किया गया। अतः कृष्ण के जीवन को लोक से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

लोक जीवन की सहजता से जुड़ने के कारण ही कृष्ण-भक्तों की रचना लोक गीतों के काफी समान है। चन्द सखी की कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित रचना परिष्कृत भी मिलती है और उनके नाम से लोक गीतों का भी संकलन हुआ है। लोक गीतों में सीधे-सीधे लोक मानस की अभिव्यक्ति होती है। अतः जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति ही उसमें प्रधान बनकर आती है। जीवन की प्रक्रिया में ही सौन्दर्य-प्रक्रिया का समावेश लोक गीतों में होता है। "कृष्ण कथा का मूल लोक-कथा है, इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि पुराण प्रचलित कृष्ण-कथा का एक रुप बौद्ध घट जातक में भी मिलता है" : (ब्रज और बुन्देली लोक गीतों में कृष्ण कथा, शालिग्राम गुप्त पृ० २१४)। कृष्ण भक्तों ने स्वच्छन्दता पूर्वक सामग्री लोक से ही ग्रहण की है। कृष्ण काव्य की लोकपरकता प्रतिपादित करके ही उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इस साहित्य का बहुत सा अंश मिट्टी से बना है। अपनी जमीन पर खड़ा हो कर चरम मूल्यों की सीमा तक पहुँचने का प्रयास कृष्ण काव्य में हुआ है।

बौद्ध धर्म में जो वायवीयता थी उसपर लोक का आग्रह बराबर पड़ रहा था। उसी की एक शाखा ने लोक चेतना को बखूबी स्वीकार किया और उसका हिन्दी

साहित्य पर पूरा प्रभाव पड़ा। महायान हीनयान की अपेक्षा अधिक मानवीय हुआ क्योंकि वह सब कुछ छोड़कर जाने की अपेक्षा सबकुछ स्वीकार करके अग्रगामी होने की सलाह देता है। इसका ही लौकिक आग्रह कृष्ण भक्ति चेतना मे जुड़ता गया। आठवीं शताब्दी से ही रचनात्मक उर्वरता और मूल्यगत उत्कर्ष के साथ अलौकिकता के चंगुल से छूटने का प्रयास होता है। धार्मिकता के अन्दर सौन्दर्य बोध का स्वरुप बदलने लगता है। यहाँ तक पहुँच कर जीवन में वायवीय आकर्षण एक आधार पर टिकने लगा। वह था जीवन से जीवन मे घटित होने वाला 'मूल्य-विश्व'। सिद्ध साहित्य की प्रवृत्ति का प्रभाव युगीन मूल्य बनकर समस्त साहित्य पर पड़ रहा था। लोक मे जन-जीवन के व्यावहारिक भोग और ऐन्द्रियता को अभिव्यक्ति के स्तर पर स्वीकार करके उसके मूल्य को निर्धारित करने का प्रयास बढ़ा। ऐहिक साधनात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरुप तान्त्रिक साधना का साहित्य पर प्रभाव पड़ा। सभी सम्प्रदायो एव स्वतन्त्र रचनाओं पर इसके प्रभाव को मानना होगा। सिद्धों की साधना के क्रम मे सौन्दर्य को ऐन्द्रिय स्तर पर स्वीकार किया गया। धर्म साधना मे दैहिक भोग को मान्यता दी गयी। फलत· ऐन्द्रियता का मूल्य बढ़ा जिससे आगे का साहित्य भी प्रभावित हुआ। हजारीप्रसाद द्विवेदी जहाँ यह मानते हैं कि "वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोक धर्म अधिक है। हिन्दी साहित्य के लोक गीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था" (हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, पृ० ९१) वहीं यह भी कहते हैं कि "उत्तर कालीन वैष्णव धर्म-मत पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है" (वही पृ० ८५)। कृष्ण भक्तों ने महायान के प्रभाव के क्रम में नारी को साधन के रुप में न स्वीकार कर प्रेम के साधन के रुप में स्वीकार किया। देहिक भोग को न स्वीकार करते हुए कृष्ण भक्तों ने प्रेम और अनुभूति के स्तर पर नारी को उसके सुन्दर रुप के साथ ग्रहण किया। नारी के अंगों और जिस्मों को सौन्दर्य के स्तर पर स्वीकार किया। भोग और रति भी होती है तो कुलीन नारी के प्रेम-रुप में। अब वह अनुभूति पर नारी को खींच लाना चाहता है। उसके सामने भी वह प्रेम के आवरण में नंगी है किन्तु पूरी मानवीय स्वच्छन्दता के स्तर पर। अपनी पूरी रचना में नारी महत्वपूर्ण है केवल लिंग के साथ नहीं। इस प्रकार बंगाल, उड़ीसा से लेकर समस्त उत्तरभारत में ऐन्द्रिय सौन्दर्य का प्रेम परक रुप कृष्ण-काव्य में दिखाई देता है। चण्डीदास और विद्यापति में भी यही ऐन्द्रियता अनुभूति का स्तर ग्रहण कर सकी

है। ओड़िया साहित्य में तो यह ऐन्द्रिय शृंगारिकता चरम सीमा पर (ओड़िया) में कुन्ती स्पष्ट कहती है कि नारी सुन्दर पुरुष से आकर्षि चाहे वह पिता हो, बेटा हो या भाई हो। रस कल्लोल में गोपियाँ को देख कर शंका व्यक्त करती हैं कि निश्चय ही यह कृष्ण हम लोगों धर्म को तोड़ देगा·····

करिथाए मोहि दिनु विचार

करिबे ये पुरुष भयसे आदार

कपटे हो इहि मानव रूप

करिब पतिव्रता ब्रत लोप (रसकल्लोल, पंचम छंद)

हिन्दी के कृष्ण-काव्य में भी इस प्रकार की रचना काफी मिलती है। रचनाओं में भी इस प्रकार की शृंगारिकता है · ·

कर सौं कर जु करयो कंचन ज्यों, अंबुज धरे

आलिंगन दै अधर पान करि खंजन कंज लरे (सूरदास, दसम

आगे सूरदास कहते हैं ··· ·····

चित को चोर अब हौं जो पाऊँ।

* * *

ले राखौं कुच बीच चाँपि करि तन को ताप बिसारौं। (सूरसागर,

नन्द दास का बिम्ब तो और स्पष्ट ऐन्द्रिय हो जाता है।

केलि कर प्यारी पियु पौढ़ें चारु चाँदनी में

नेह सों लिपट गये जोबन के जोस में।

अंगियां दरक गयीं, मानों प्रात देखिब कौं,

चोंच काढ़ि चकवाक कामतर रोस में।

आरससौं मोर बाँह दोऊ कुच गहे पिय,

रति के खिलौना मनों डौलि दिए ओस में, (नन्द दास ग्रन्थावली,

निश्चय ही इन बिम्बों में सामान्य नायिका के उरोजों का भाव के स्तर प किया गया है। पूरा बिम्ब दिव्याराधन से ज्यादा लौकिक का बनाक समर्पित है नश्वर में जीवन्तता और भाव को प्राप्त करके उसे मू में ग्रहण करने के लिये छोड़ दिया गया है।

सामान्य नायक के तन्मय केलि क्रीड़ा के रुप में हरि राम व्यास ने कृष्ण की केलि क्रीड़ा का चित्रण किया है। दाम्पत्य जीवन में इसी तन्मयता की आवश्यकता है—

स्याम काम बस चोली खोलत, आतुर निशि के भोरे।
डांडी छाड़ि करत परिरम्भन, चुम्बन देत निहोरे।
सैननि बरजति पियहि किसोरी दे कुच कोर अकोरे।

—श्री हरि राम व्यास, पृ० २८०।

कितना यथार्थ चित्रण प्रतीत होता है? क्या उन कवियों के सामने यह यथार्थ नहीं था? प्रायः वे भी दाम्पत्य जीवन से बँधे थे। व्यास कवि ने भी इस श्रृगार को जिश्मों के साथ स्वीकार किया है। —

सबनि अंगनि के हैं कुच नाइक
जिन पर पहिले दृष्टि परत ही क्या होत मन मादक॥ भक्त कवि व्यास जी ३५५।

कवि को यह पता है कि प्रेम का पहला आक्रमण कुच पर ही होता है। यही नही पुरुष को भी उरोजों की चोट खानी पड़ती है।

बधिक हूतें उरज की चोट। —३५६।

आगे वे विश्लेषण करते हुए कारण भी देते हैं कि क्यों कुच प्रेमी को कष्ट। देते है।

या ही ते माई कुचनि के ओर भये कारे।
ये पिय के नैननि में बसत, इनके पिय के लारे॥ —३५९।

यदि ऐंद्रियता का आग्रह न होता तो ये भक्त इस प्रकार का वर्णन क्यों करते? प्रेम मनसा भी अपने आराध्य से कर सकते थे लेकिन उसपर उरोजों का बौछार क्यों करते। सभी कवियों ने इस प्रकार रति, रमण, भोग, कुच-मर्दन, नग्न-दर्शन, और अन्य [illegible] क्रीड़ायों से [illegible] को क्यों जोड़ा? क्योंकि वे इसकी स्वच्छन्दता को प्रतिपादित करना चाहते थे। इसकी और चर्चा सामाजिक मूल्य के सन्दर्भ में की जाएगी।

भाषा के द्वारा रचनाकार बिम्बों की रचना करता है और अपने समस्त जीवनानुभव को वह संश्लिष्ट अभिव्यक्ति देता है। भाषा के द्वारा बिम्बों की रचना होती है

जिसमें प्रमाता भाव हृदय तक अनेक सम्भावनाओं के साथ पहुँचता रहता है [illegible] बिम्बों के [illegible] पूरी रचना ही एक बिम्ब का रूप ग्रहण कर लेती है, तभी पाठक के मानस पर साहित्यिक चेतना का भावचित्र बनता है। अपने भाषिक अभिव्यक्ति में साहित्य मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों को संश्लेषित करने एवं उससे चरम मूल्यों की ओर ले जाने का प्रयास करता है। इससे भी आगे जिन मूल्यों तक मानव पहुँच चुका है उससे आगे के मूल्यों तक उसे ले जाता है। साहित्य में अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तुतः शब्द किसी क्रम में आकर बिना किसी संकेत के ही दूसरे मनुष्य के मनोभावों को उद्घाटित करते हैं। शब्द अपने आप में समस्त अनुभव की शक्ति को समेटे होते हैं। उनकी सारी सम्प्रेषणीयता साहित्यकार के प्रयोग क्रम के आधार पर निर्भर करती है। सामान्य रूप से वस्तु सत्ता का संकेत एक ऐसे सोपान के रूप में प्रस्तुत होते हैं ताकि हम मनोभावों के विकास तक पहुँच सके। कृष्ण-काव्य की ब्रजभाषा अपने मनोभावों के विकास तक पहुँचे हुए वस्तु सत्ता के संकेत को अपने में समेटे हुए है।

साहित्ययुग के बदलते क्रम में हमेशा परिवर्तन और नवीनता को अभिग्रहण करता चलता है। मनुष्य की पैठ और अन्तर्दृष्टि जितनी गहरी होती जाती है, उसी के अनुपात में यथार्थ की पकड़ भी सघन होती जाती है। इस प्रकार जीवन की जटिलता और संश्लिष्टता के क्रम में साहित्यकार चेतना के अनेक स्तर से गुजरता है। फलतः रचना संश्लिष्ट और जटिल होती जाती है और भाषा सरल। कृष्ण भक्तों ने लोक-जीवन के विविध अनुभवों को सरल भाषा में गोकुल और ब्रज की सीमाओं में संश्लेषित किया। कृष्ण और राधा को केन्द्र मानकर जीवन का संघनन किया। जीवन को आयतन से हटाकर घनत्व में प्रतिपादित किया। लोक जीवन की विस्तृत भाषा में गोकुल गाँव की अपेक्षित मूल्यात्मक जिन्दगी की रचना सीमित जीवन, सीमित भक्ति और सीमित प्रेम का परिणाम नहीं अपितु लोक जीवन के मूल्यात्मक सन्दर्भ को लोक भाषा में घनत्व देना रहा है। जीवन के विकास के क्रम में सरल भाषा की अभिव्यक्ति जटिल जीवन की सृजनात्मक परिणति है। क्योंकि भाषा की सरलता का अर्थ जीवन की जटिलता को प्रस्तुत कर लेने की क्षमता है, जो भाषा का विकास कहा जा सकता है। ब्रज भाषा तक पहुँचकर मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में भाषा का विकास ही होता गया है। रुढ़ियों और मान्यताओं में बँधी संस्कृति भाषा को छोड़कर

मूल्यों और मानको को सवहन करने वाली भाषा को जिसमें जीवन जीया जा रहा था, अभिव्यक्ति के लिये स्वीकार किया गया। साहित्यसर्जना में व्यक्ति की सृजनशीलता उसकी अनुभूति, प्रतिभा एव कल्पना का सम्मलित प्रयोग वस्तु के सापेक्ष अभिव्यक्त होती है। यह अभिव्यक्ति भी रुप ग्रहण करती है और रुप ग्रहण के साथ वस्तु और रुप का यह संघर्ष प्रवृत्तियों के सघर्ष के रुप में बराबर चलता रहता है। पूरी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति भापा में होती है जो पूर्णत: सामाजिक है। अपने सामाजिक सन्दर्भों और लोक जीवन की भूमिका में मूल्यों और मानको के साथ कृष्ण-भक्तों की भापा कितनी सफल है यह इसी बात पर निर्भर करता है कि प्रेम, शृंगार: ऐन्द्रियता, सुख, दुख, इच्छा, रुचि, धर्म, दर्शन, आध्यात्म ज्ञान आदि की अभिव्यजना के लिये उन्हें भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। एक ही भाषा मे यथार्थ मूल्यों का सघर्ष और मानव-मूल्यों की समावनाओं को अभिव्यजित किया गया है। अभिव्यक्ति और अनुभव दोनों लोक का है। लोक जीवन से बाहर किसी चीज का बोध नहीं ढूढा गया है। अपनी इसी अपेक्षा के क्रम मे कृष्ण को भी राधा के साथ गोकुल ब्रजभूमि मे मानव के रुप में मानव के बीच उतारा गया है जो भाव, अनुभव और भापा के स्तर पर लोक में ही जीता है। लोक भापा के आग्रह ने उसे भी छाक और रोटी खाने को मजबूर किया और उसे भी रता, पेंता, मैना, मनसुखा, हलधर के साथ वन में लोक-जीवन में भटकाया। चरम मूल्य है न। चरम मूल्य जीवन मे भटक कर, जीवन जी कर, संघर्ष करके ही मिलता है, जीवन से दूर हटकर की गयी साधना मे उसकी उपलब्धि सभव ही नहीं। उस चरम मूल्यों के अपेक्षित चरित्र को भी कृष्ण-भक्तों ने भटकाया। बड़े सहज ढंग से कह दिया चार पहर बसी बट भटक्यौ साझ पहर घर आयौ। सामान्य जिन्दगी की चौहद्दी मे उसे भी स्वतन्त्र छोड़ दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्यिक भाषा का विकास जन-भाषा से होता है और जनभाषा में उसका विलय भी हो जाता है। कृष्ण-भक्तों ने प्रौढ़ और शिष्ट ब्रजभापा को अभिव्यक्ति के लिए स्वीकार किया। प्रसंगानुकूल भाषा को परिष्कार भी दिया।

यदि भाषा हिन्दी के क्रम में देखा जाय तो साहित्य के स्तर पर पहुँचकर अपभ्रंश जन भाषा नही रह गयी। आगे अब हिन्दी की बोलिओं में अभिव्यक्ति की आवश्यकता हुई। ब्रजभाषा, अवधी और भोजपुरी तथा मैथिली आदि बोलियाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति की भाषा बनने लगीं। दैवी चरित्र को जन-जीवन में खींच

[illegible] तथा [illegible] के साथ उसी जन-जीवन से [illegible] की इच्छा ने विभिन्न बोलियों को स्वीकार किया। कृष्ण के लोकव्यापक [illegible] के साथ नव की अनुभूति, भक्ति [illegible] हुआ। मुक्ति की कामना [illegible] को स्वीकृति मिली। निश्चय ही यह लोक अभिव्यक्ति की भाषा हुई और अपनी सरसता, प्रवाह एवं कोमलता के कारण जीवन की अनुभूतियों [illegible] अभिव्यक्ति के लिये सक्षम हुई। लोक जीवन की [illegible] प्रस्तुत करने की [illegible] इस भाषा में थी। कीर्तन एवं संगीत के साथ विशेष सम्बन्ध के कारण ब्रजभाषा भाषा हुई। संगीत की ध्रुपद शैली इसी भाषा में चल रही थी। ब्रजभाषा में गेयता का तत्व समाहित हुआ। इसकी शक्ति इतनी रही कि अवधी में रचना करनेवाले तुलसी ने पद-रचना ब्रज-भाषा में की। दूसरी स्थिति यह थी कि ये बोलियाँ उनके अभिव्यक्ति की केन्द्रीय बोलियाँ थीं। जन जीवन के व्यापक सम्पर्क के लिये इन बोलियों में अनेक तत्वों को समाहित करना पड़ा जिससे ये अधिकांश व्यक्तियों के सम्पर्क की भाषा बन सकें। अपनी स्वच्छन्दतावादी तथा जन-वादी दृष्टि के कारण ही इन बोलियों को साहित्य से जोड़ा गया। अतः भक्ति कालीन भाषा या कि कृष्ण-भक्तों की भाषा मिट्टी की उपज थी। यही इन रचनाकारों की अभिव्यक्ति की सृजनात्मकता थी।

कृष्ण-भक्तों ने लोक जीवन को रचा। कृष्ण को केन्द्रबिन्दु मानकर। कृष्ण लोक जीवन के अपेक्षित मूल्य थे—चरम मूल्य। जहाँ तक लोक जीवन को पहुँचना था जो कहीं दूर नहीं इसी लोक में जीवन के बीच जीवन-भोग के क्रम में उपलब्ध था। समाज की गति, वैचारिक धारा प्रदान करने वाले कृष्ण और कृष्ण के साथ रहकर लोक जीवन की गति को इन भक्त कवियों ने समझा था। मात्र मनुष्य को ही मूल्यों तक नहीं पहुँचना था अपितु ईश्वर को भी मानव के बीच आना था। उभय प्रयास के साथ लोक जीवन को मान्यताओं, रुढ़ियों और संकीर्णताओं से हटाकर गतिशील जीवन की अपेक्षाओं, मूल्यों और मानकों तक उसे ले जाना था। इसीलिए चरम मूल्य के सामीप्य की अभिलाषा इन कवियों ने की। वह मात्र काल्पनिक, अप्राप्य, अगोचर हो कर ज्ञानसाधना की चीज नहीं रहा। जन के बीच सहयोग, सहकारिता, उदात्तप्रेम, सहजता और स्वाभाविक सत्य की भूमिपर खड़ा वह लोक जीवन का प्रतिनिधित्व कर रहा था। वस्तुसत्ता की मान्यता की चेतना भरता हुआ वह जीवन को स्वच्छन्द बहती हुई नदी के वेग के साथ प्रगतिशील करना चाहा। इस जीवन की गतिमात्र

उस नदी की धारा नहीं जिसमें जल के अनेक स्तर होते हैं, नीचे का स्तर गतिहीन किन्तु ऊपर का स्तर नीचे के स्तर पर सरकता है। [illegible] से जुड़ा जल स्तर अपनी स्वाभाविक गति के [illegible] और गतिहीन होता है क्योंकि उस पर अनेक जलस्तरों का दबाव होता है। कृष्ण भक्तों ने ऐसे प्रवाह की कल्पना की थी जिसपर सामन्ती जीवन का दबाव हो। प्रभु और [illegible] हो। यहाँ तो प्रभुवर्ग और लोक जीवन में स्तर [illegible] था। [illegible] की भाँति सबका सहयोग था, सब में एक साथ गति थी। जहाँ स्वाभिमान था और सहजता थी। इस जीवन की कल्पना कृष्ण और गोपियों की रासलीला में विकल्प पाती है। जहाँ प्रेम है, [illegible] गति है, सहयोग है और सहजता है। गर्व और असहयोग का जहाँ नामोनिशान नहीं। जहाँ सबकी भूमिका समान है। अपनी भूमिका की एकाधिकता और गर्व की भूमिका के आते ही जीवन का चरम मूल्य जीवन के बीच से तिरोहित हो जाएगा। फिर गोपियाँ उस चरम मूल्य को,-कृष्ण को खोजती फिरेंगी

> अनयाऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
>
> यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥ भागवतपुराण--१० : ३० : २८

युगीन मूल्यों की प्रक्रिया और कृष्ण-काव्य।

काल एक निरन्तर [illegible], [illegible]. मनुष्य की [illegible] से परे, उसकी [illegible] के [illegible] की [illegible] है। मनुष्य निरन्तर [illegible] [illegible] की धारा में अपनी सृजनात्मकता का प्रयोग करता चलता है और जो उसने [illegible] विकास में सांस्कृतिक उपलब्धि की है, उसे जानना समझना भी चाहता है। इस जानने के क्रम में, वह अतीत को वर्तमान की आँखों से, वर्तमान की समृद्धि एवं भविष्य की सम्भावनाओं के क्रम में देखता है। उसकी दृष्टि या कि देखने परखने की अपनी सीमा है। अतः वह अनन्त काल खण्डों में ही [illegible] [illegible] के साथ एक काल सीमा के अन्दर प्रवृत्ति विशेष की प्रधानता को देखता और परखता है और उसे विशेष नाम भी दे डालता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक युग सटे ईंट की भाँति है अपितु वे तरंगों की भाँति अजस्र रूप से प्रवाहित हैं जिसे अवरुद्ध करके मापा नहीं जा सकता है और न उसे परिवर्तित होने से रोका ही जा सकता है। अतः देश-कालके भीतर जब युग का निर्धारण किया जाता है तो निश्चय ही उसमें मूल्यों का विशेष ध्यान दिया जाता है। समय के साथ मानव-कर्तृत्व के अन्तर्गत मूल्यों में अंतर आता रहता है। मनुष्य जीवन में मूल्यों की स्थापना करता चलता है और उस अर्जित मूल्य को समझना चाहता है या कि वह जीवन की समस्त सम्भावनाओं से परिचित होना चाहता है। अतः मूल्यों की प्रधानता के आधार पर ही युगका निर्धारण होता है, क्योंकि युगीन क्रम से मूल्य परिवर्तित होते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि मूल्य समाप्त हो जाते हैं अपितु उनके औचित्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है। जो मूल्य आज अत्यन्त आवश्यक एव चरम मूल्य स्वीकार किए जाते हैं, वे ही कल नितान्त रुप से हीन समझे जाते हैं। अतः मूल्य एक द्रव्य या गुण नहीं है अपितु वह एक अवस्था है, जिसकी स्थिति में है या नहीं है का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो मात्र औचित्य का सवाल अर्थात् उसे ऐसा होना चाहिए, है। मूल्य के स्तर पर, नैतिकता का प्रश्न समाहित हो जाता है यदि सुन्दर शब्द मूल्य के स्तर पर आता है तो वह संज्ञा न हो कर सौन्दर्यात्मक मूल्य बन

जाता है और तब इसका अर्थ हो जाता है कि सौन्दर्य चरितार्थ है। मानव का कर्तृत्वाभिमान सौन्दर्य को ही कलाओं के माध्यम से चरितार्थ करता है। अतः यह होने की प्रक्रिया, औचित्य-अनौचित्य का सम्बन्ध है और उसी के अनुसार युग का निर्धारण भी हो जाता है। मूल्यों के बारे में जाने बिना युग की परिभाषा नहीं दी जासकती। मनुष्य मूल्यों की खोज और स्थापना में ही सृजनशील है और वह हमेशा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि वह जो नही है और उसे जो होना है या चाहिए उसी की समय-सापेक्ष खोज में लगा रहे। इस प्रकार, वह समग्र मानव-कर्तृत्व- में से ही उस चीज को प्राप्त करलेना चाहता है, जो अतीत से क्रमिक सृजन है। इस पूरी प्रक्रिया में वह मूल्यों की चरम अवस्था तक पहुँच जाना चाहता है। इस प्रकार वह धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक मूल्यों में से होने योग्य मूल्यों की तलाश कर लेता है। इस प्रक्रिया में ही समस्त अतीत को विभिन्न युग-धाराओं के रुप मे पाता है और उसी के साथ अपने को भी धारावाहिक पाता है। चरम मूल्यों तक विकास करने की सतत् कोशिश भी करता है। चरम मूल्य उन वस्तुओं, स्थितियों तथा व्यापारों अथवा उनके विशिष्ट पहलुओं को कहते हैं, जो मनुष्यों की सार्वभौम सवेदना की आवेगात्मक अर्थवत्ता लिए हुए दिखाई देते हैं" (देवराज वही पृ० १७५)।

भारतीय दर्शन में काल को विराट् रुप में माना गया है। उसके अन्तर्गत भूत वर्तमान और भविष्य सापेक्ष्य व्यजनाएँ है। इस प्रकार काल्पनिक स्तर पर नही बल्कि मूल्यों की अपेक्षाओं के आधार पर ही युगो की कल्पों की कल्पना की गयी थी। इसी कल्पना के साथ भारतीय इतिहास मनुष्य के आरम्भ और चरम अवस्था तक जाकर विनाश की कहानी के रुप में ही कालखंडों की कल्पना करता चलता है। "युग और धारा एकसाथ मस्तिष्क में उदित होते हैं और प्रायः भ्रम उत्पन्न करते हैं। धारा वस्तुतः एक रुपात्मकशब्द है। कहा जा सकता है कि धारा एक विशिष्ट प्रकार की सतत् गतिशील प्रक्रिया है जो कम या अधिक रुप से प्रगति की अवधारणा से जुड़ी रहती है" (सुमन राजे : साहित्येतिहास सरचना और स्वरुप, पृ० १५१) युग निश्चय ही गतिशील हैं और इस गतिशीलता के क्रम में जिस गति से वे आगे बढ़ते हैं, उसी दर से पीछे कुछ छोड़ते भी जाते हैं : इस छोड़ने की बात को माप कर ही युग की गति का भी मापन सम्भव है। क्योंकि विज्ञान में भी निरपेक्ष गति एव निरपेक्ष स्थिरता की कल्पना नहीं की जाती है। अतः गति और स्थिरता सापेक्ष

है। युगीन शक्ति के मूल्य मानव ही मान जा सकता है यह है कि जो मूल्य युग है उसके सापेक्ष। युग । [illegible] [illegible] मूल्यों की धारावाहिकता में विभिन्न सोपान अवसरों पर समाज के आर्थिक विकास की धारणा है जो स्थाई नहीं अपितु प्रक्रिया के रूप में ही प्रवाहमान है। इसका अर्थ है कि युग की स्थिति में सतत् गतिशील है। युग के साथ मूल्यों का और मूल्यों के साथ मानव की सृजनशीलता और धारावाहिकता का अभिन्न सम्बन्ध है।

किसी भी युग के अनुरूप उस युग का साहित्य भी होता है या यों कहा जाय कि साहित्य के द्वारा ही विशेषतः किसी युग की चेतना का निर्धारण किया जा सकता है। साहित्य का इतिहास भी राजनीतिक परिवर्तनों के अनुसार ही विभिन्न युगों में बाँटा जाता है। किन्तु ऐसा ही नहीं है। किसी भी युग में पीढ़ियों, सामाजिक, बौद्धिक और अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं का धारावाहिक समावेश होता है जिनके सामूहिक परिवर्तन का प्रभाव साहित्यिक परिवर्तन पर पड़ता है। निश्चित मूल्यों की प्रधानता के कारण काल प्रवाह के एक खण्ड को युग के रूप में स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि उस युग में एक निश्चित संस्कृति, निश्चित मूल्य विशिष्ट हो गये थे। इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ मूल्य ही थे अपितु मूल्यों की एकता में अभाव आवश्यक नहीं होता। तात्पर्य कि एक निश्चित मूल्य को ही विशिष्ट रूप में पकड़ा गया था या वह उस काल की अपेक्षा थी, जिसने समय के साथ भिन्न रूप ले लिया। यद्यपि वे मूल्य भी मानव-चेतना में चल रहे थे। इन मूल्यों का दर्शन, संस्कार रूप में, लोक गीतों, लोक कथाओं और लोक कहावतों के रूप में होता है। यही कारण है कि भक्ति काल में जो भारतीय संस्कृति पर बाह्याभ्यन्तर से खतरा उत्पन्न हुआ था, उसे निष्प्रभ करने के लिये आवश्यक था कि भारतीय जटिल शास्त्रीय कर्मकाण्ड सम्बन्धी धार्मिकता की जगह सहज साध्य भक्ति का प्रयोग किया जाय। धर्म को बाह्याडम्बर से मुक्त करना उस युग की सबसे आवश्यक माँग थी। इसीलिये विभिन्न कवियों ने सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिये भक्ति का सहारा लिया। इसका तात्पर्य नहीं कि आज भी उसी प्रकार की क्रान्ति से सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की जा सकती है। आज की औद्योगिक क्रान्ति के अनुरूप ही मूल्यों का विकास किया जा सकता है। यही नहीं एक युग की चेतना दूसरे युग में भी बहुत दूर तक चलती रहती है। एक युग में परिवेश भी समाहित होता है। एक युग में अनेक परिवेश हो सकता है किन्तु एक

परिवेश में युग की कल्पना नहीं की जा सकती है परिवेश समसामयिकता से जुडे होते हैं, जिनका एक ओर युग और युग-बोध से सम्बन्ध होता है और दूसरी ओर वे मुक्त होते हैं, जो समय के साथ युग मे पर्यवसित होते जाते हैं। परिवेश की प्रगामी मुक्तता भविष्य की सभावना को व्यक्त करती है। परिवेश ही वह वस्तु स्थिति हैं जिसमे रहकर मनुष्य सृजनशीलता के लिये सवेदित होता है और वह युग की चेतना को अनुभव के रुप में स्वीकार करता है। इस प्रकार, युग और परिवेश दोनों रचना के कारक होते हैं। परिवेश मे सक्रियता ज्यादा होती है और रचना में परिवेश का ही सन्दर्भ अवश्य होता है। सृजनशील व्यक्ति परिवेश के परिप्रेक्ष्य को अच्छी तरह जानता और पहचानता है।

प्रत्येक युग मे लोक चेतना एव साहित्यिक चेतना ऐतिहासिक क्रम मे एक दूसरे के सामानान्तर गतिशील होती है। लोक-चेतना साहित्यिक चेतना की आधार पीठिका होती है तथा उपादान भी। बाद में लोक-चेतना साहित्य-चेतना के द्वारा परिष्कृत होती है। वस्तुत· लोक-चेतना और साहित्य-चेतना में समानान्तरता होती है, एकात्मकता नही होती परन्तु उनमें उच्च विभव के कारण ही एकात्मकता दिखाई देती है। प्रत्येक क्षण या प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक क्षण एक युग में तो अवश्य होता है लेकिन एक परिवेश मे नहीं हो सकता। एक व्यक्ति एक ही परिवेश में जीता हो सम्भव नहीं। प्रत्येक परिवेश मानव-जीवन में अन्दाज बन कर रह जाता है। उसमे पहुँचकर व्यक्ति अपने को टटोलता और प्रत्येक बार अपने को परिवेश के अनुसार बनाने में भिन्नता का एहसास भी करता है। यह प्रक्रिया प्रत्येक जीवन के साथ होती है। पूरा मानव समाज एक नये लोक-चेतनात्मक स्तर से गुजरता है। किसी भी परिवेश की लोक-चेतना उसके व्यक्ति ऐकिकों की वैयक्तिक चेतना का लघुतम समापवर्तक होता है और युग की लोक-चेतना अनेक परिवेश की लोक चेतना का महत्तम समापवर्तक। परिवेश में युग की अपेक्षा काफी गत्यात्मकता होती है किन्तु परिवेश का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर युग के साथ ही ज्ञात होता है। वस्तुतः परिवेश की गति तरंगवत् होती है जो युग के साथ शीर्षों एव गर्तों के रुप मे प्रगामी होती है। इस प्रविधि मे मानव का जैविक विकास मध्यमान रेखा के साथ गति करता है जिसके इर्द-गिर्द उसकी गतिदिशा में ही चेतनात्मक परिवेश शीर्ष और गर्तों के रुप में अग्रगमन करता है। इस बीच एक प्रकार की उदासीनता की स्थिति भी

अती रहती है जब कि [illegible] में रचनात्मक सहयोग कुण्ठित हो जाता है या कुण्ठित होने लगता है। फलतः परिवेश एवं युग के साथ ही युग-बोध के प्रश्न जुड़े हैं जो रचनात्मक सर्जना का काम करते हैं। इस युग और उससे भी अधिक परिवेश की पहचान और पकड़ साहित्य में होती है।

समस्त ललित कलाओं में युग-विशेष की रुचि की प्रधानता रहती है और कलाओं का सांस्कृतिक युगों पर भी प्रभाव पड़ता है। रचना में या साहित्य में, युग-बोध, युगीन मूल्य एवं वस्तु जगत् की संवेदनाएं, अनुभूति और कल्पना का समावेश होता है। किसी रचना की समीक्षा में युग का निदर्शन आवश्यक है। पूरी रचना-प्रक्रिया भाषिक रचना है और युगीन मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। किसी भी युग का साहित्य मूल्यों की सृजनशीलता बनकर अभिव्यक्त होता रहता है। इस प्रक्रिया में युगीन मूल्य युग के अंग बनकर ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

रचनाकार अपने युग से अविच्छिन्न रूप में जीवन व्यतीत कर रहा होता है। अतः वह अपने युग के भीतर ही वस्तु जगत् का अनुभव करता है। फलतः वह अपने युग के सन्दर्भों को अच्छी तरह जानता पहचानता है। यह व्यक्ति मात्र की विशेषता है किन्तु सृजन-क्रिया में लगा व्यक्ति अधिक प्रतिभाशाली होता है। इस प्रकार रचना में, जो रचनाकार का अनुभव जगत् और उसके सामाजिक जीवन का भाषिक संश्लेष है, युगीन मूल्यों का समावेश होता है। इस मूल्यात्मक संश्लेषण के कारण ही सृजनशील है, क्योंकि वह जीवन्त समाज की एक संस्था है। यही कारण है कि वह निरन्तर नया रूप लेता रहता है। सृजन-क्रिया में रचनाकार और युग की विभिन्नता के क्रम में विभेद आता है। इसी कारण साहित्य के रूप में भी अन्तर आता है। साहित्य अपने युग और राष्ट्र की चेतना का अभिव्यंजक और विधायक होता है। अतः इनके सापेक्ष रचना में और रचनागत मूल्यों में भी परिवर्तन होता चलता है। उसमें परम्परा के वहन के साथ मौलिकता और नवीनता का समावेश होता रहता है या कि नये मूल्यों की युग-सापेक्ष स्थापना भी होती चलती है। रचना को रचना के बाहर के जगत् और परिवेश से जोड़कर देखना परखना अति आवश्यक है। सच्चे अर्थों में ही साहित्य अनुकृति मात्र नहीं अपितु रचनाकार सामाजिक सत्य को ही नई छवियों एवं रूपों में रचता है। अतः रचना किसी क्षण की

संवेदना मात्र नहीं अपितु दीर्घकालीन साधना है जिसको रचनाकार अनेक संघर्षों के साथ पूरा करता है। कभी-कभी एक विशिष्ट युग की कृति नये युग को पैदा करने में समर्थ होती हैं। (भक्ति कालीन मूल्यों की रचना मे भागवत् पुराण का स्थान यही है) इसका तात्पर्य यह था कि युग, धारा में नये मूल्यों का सृजन करता चलता है। ये युगीन मूल्य बने-बनाये नहीं होते बल्कि वे कच्चे माल की तरह प्राप्त होते हैं और सृजनकर्त्ता उससे शिल्पी की भाँति मूल्यों को रचता है।

आदि काल का ऐन्द्रिय भोग सम्बन्धी सुखात्मक मूल्य अब क्षीण होकर व्यभिचार का रुप ग्रहण कर चुका था। अतः अब अपेक्षा थी इस जगत् प्रपञ्च के भीतर से जीवन की जीवनी शक्ति को पकड़ लेना। भक्तिकाल मे जीवन-दृष्टि बदली फलतः युग की प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ। ईश्वर का वैष्णवी चित्रण हुआ जो गीतगोविन्द तक पहुँच कर लीलापरक हुआ। यहाँ प्रगीतात्मक शैली में लोक-जीवन की सहजता को प्रश्रय मिला। युग की अपेक्षा के अनुकूल परम्परित वैष्णवी भक्ति को प्रेमानुभूति मे स्वीकार किया गया। यह प्रेम मानवीय हुआ और अब ऐन्द्रियता की सौन्दर्य-दृष्टि वस्तुनिष्ठ न होकर भावनिष्ठ हुई। मानवीय जीवन की सच्चाइयों में सौन्दर्य बोध को भावात्मक दृष्टि में प्रेम को उतारा गया। अनुभूति के क्रम में व्यक्ति जीवन के भीतर से सत्य की खोज की गयी। यही कारण है कि इन कृष्ण-भक्तो ने भी नारी को भावात्मक सत्य के स्तर पर खोल कर देखने की कोशिश की फिर क्यों न चोंच निकाले हुए क्रौंच पक्षी की भाँति नारी के उरोज चोली के भीतर से झाँकते दिखाई देंगे। उन्हें भारतीय मानस का सत्य विदित है कि नारी का सौन्दर्य उरोज में है (कम से कम प्रियतम के सन्दर्भ मे)। यह सबकुछ मानवीय व्यवहार और अनुभूतिक प्रेम की उस सीमा में है जहाँ प्रेमी सामाजिक सन्दर्भों में अपना आत्म विस्तार करता है। इसमें रज और स्राव को मिलाकर शून्य अवस्था तक जाना नहीं अपितु जीवन की जीवन्तता में रम जाना है।

सब अगनि के हैं कुच नाइक !
जिनपर पहिले दृष्टि परत ही, कया होत मन मादक ॥ व्यास' पृ०, ३५५।
याही ते माई कुचन के ओर भये कारे। —वही पद—३५९।

यही नहीं जीवन की उस यथार्थता तक भी कवि पहुँचता है जहाँ प्रताप नारायण

मिश्र आधुनिक युग में पहुँचते हैं मरे को मारें शाह मदार । वहीं तक पहुँचे हुए व्यास कवि ने भी कह दिया :

मरे, कै मारेसौंचौ सूर ।

पीठि न देइ, डीठि के अरि—दल, सुनत सनर कै तूर ।। व्यास, पद—९६ ।

यही नहीं सभी कृष्ण-भक्तों ने दूध पिलाती माँ को भी देखा है। यदि सूर कहते हैं कि अचरा तर प्रभु ढाँकि सुर की जसुमति दूध पिआवै। तो ब्रजवासी दास को अस्तन पान छुड़ाती हुई यशोदा भी दिखाई देती है। ..

बैठे श्याम मात की कनियाँ, पियत दूध सुन्दर सुख दनियाँ।

बार—बार यशुमति समुझावें, हरिसौं स्तन पान छुड़ावें ।।

जीवन के यथार्थ में से ही जीवन के सत्य को पाना साहित्यकार की भूमिका हुई। कृष्ण-भक्तों ने यही किया। साधना का रूप यथार्थ के विकल्प के रूप में प्रस्तुत हुआ। ज्ञान, कर्म और प्रेम के साथ जीवन के लिये जो आदर्श प्रस्तुत किया गया, उसमें यथार्थ को समर्पित करके अपने-अपने ढंग से मूल्यों एवं मानकों को व्यंजित किया गया। अपने यथार्थ जीवन के क्रम में जिस वृन्दावन धाम को चरम मूल्यों की अवस्थिति इन कृष्ण-भक्तों ने स्वीकार की उसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अधिकारी बनना होगा। वहाँ तक पहुँचना हमारा अधिकार है...यह बोध होना चाहिए। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवन-मूल्यों की पहचान के लिये वस्तु जगत् का बोध होना आवश्यक है। अपने कर्तृस्वाभिमान की परिधि में अपने वस्तु जगत् का सम्यक् बोध इन कृष्ण-भक्तों को था। तभी इस प्रक्रिया की परिणति नन्ददास अपनी रचना में करते हैं

बिनु अधिकारी भये नाहिंन वृन्दावन सूझे।

रेनु कहाँते सूझे जबलौं वस्तु न बूझे ।।

वस्तु स्थूल हो सकती है किन्तु मूल्य तो अति सूक्ष्म होता है। क्योंकि मूल्य तो ठोस द्रव्य पदार्थ नहीं अपितु अवस्था है, होने की अपेक्षा है याकि उसे ऐसा होना चाहिए। अतः वस्तु जगत् की यथास्थिति का सम्यक् बोध अनिवार्य है। लक्ष्य और स्नेह की भूमिका पर आधारित कृष्ण काव्य की जीवनी शक्ति को परखा गया और इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण भक्ति में रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि भी अपना रचनात्मक सहयोग दे रहे थे।

इन कृष्ण भक्त, ने केवल उच्च वर्ग के अहकार और वर्ण-दम्भ को ही नहीं उनकी धर्म और नीति सम्बन्धी उन मान्यताओं तथा रुढ़ियो को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयास किया जो तत्कालीन सन्दर्भ मे मूल्य नहीं रह गयी थीं। भक्तो के आन्दोलन की चेतना मानवतावादी जनवादी चेतना रही है' इसका तात्पर्य है कि इन भक्तो ने जीवन की वस्तुस्थिति पर विचार किया था और क्रान्तिकारी स्वर मे उसका उदघोप भी किया। प्रेम को आधार बनाकर यह आन्दोलन रागात्मक अवश्य हुआ किन्तु यदि उसे मूल्यात्मक सन्दर्भ कवियो ने दे दिया तो समाज की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। सच्चा मानवीय मूल्य बाधाओ के बीच स्थापित होने के लिये उभरता है। उस मूल्य को पाने के लिये भक्त कवि ससार को ललकार देगा।

*　　*　　*　　*

लाज सरम सबही मै हारी, यो तन चरण अधारी
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, झक मारो ससारी ॥ मीरा वृहत् पद सग्रह, पद, १९।
बरजी मै काहू की नाहिं रहूँ। —वही व्रजभाषा मे प्राप्त पद—१।

इस साहस के साथ प्रेम को मूल्यात्मक सन्दर्भ में इन कवियों ने स्वीकार किया। अपने को मिटा कर लौकिक सुख के स्वार्थ का परिहार करके जन-वादी मूल्य को कृष्ण भक्त ही वरण कर सकता है

प्रेम फाँस सो फाँसि मरे, सोई जिय सदाहिं।
प्रेम मरम जाने बिना; मरि को जीवत नाहि॥

*　　*　　*　　*

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख, नंद की गाइ चराइ बिसारौं।

(हिन्दी काव्य संग्रह, रसखान)

इन कृष्ण भक्तों ने सामान्य जन-जीवन के बीच मे ही चरम मूल्यों की अवस्थिति देखी थी। इन कवियों ने प्रेम को ही मूल्य के रुप में स्वीकार किया चाहे वह सख्य, दाम्पत्य, वात्सल्य और मैत्री की सीमा में ही बँधा रहा। यह प्रेम भी नारदीय भक्ति सूत्र, महाभारत और भागवत् से आता हुआ प्रेम है जिसको लोक जीवन की सहजता प्रदान की गयी। प्रेम का विकास गुणात्मक स्तर पर हुआ। जिसका प्रभाव अमिट हुआ। सस्कार मे बँधकर प्रेमी के जेहन

[illegible] जीवन भर गाया था किन्तु रहस्य नहीं था, निष्कपट सहज जैसे प्रश्न कर एक अटपट आत्मीयता पूर्ण कष्ट मिलता है– प्रीति करि काहू सुख न लह्यो। तो उसे रोका भी नहीं जा सकता। ज्यों कन्हाई को प्रेम कहाँ अलि कैसे छूटत। इस प्रेम में विरह जनित अपार वेदना है तो वहीं विरहिणी नारी का स्वाभिमान भी व्यंजित है। प्रेम को मूल्य मान कर लक्ष्य के लिये मर जाना विरहिणी गोपियों को मंजूर है किन्तु घटने वे नहीं टेक सकती हैं। हर बाधाओं को वे ठुकरा देंगी। उन्हें इतना साहस है कि जिसे उन्होंने मूल्यात्मक सन्दर्भ दिया है उसे ही अन्तिम लक्ष्य मानेंगी कोई भी शक्ति उसका निषेध नहीं कर सकती। अपने प्रेम के अन्तिम लक्ष्य कृष्ण को पाने में कृष्ण सखा उद्धव भी बाधक नहीं हो सकते। बड़े मासूमियत से सूर की गोपियाँ उद्धव की खिल्ली उड़ाएगीं, उन्हें चुटकी पर लेंगी बल्कि उन्हें ही अपने रंग में रंग लेंगी। फिर क्या नन्ददास की गोपियाँ थोड़ा और मुखर होकर तर्क करती हैं। बुद्धि का प्रयोग करती है। निरा मासूम ही नहीं, बड़ी साहसी भी हैं। प्रेमचन्दने कहा "बड़े लोगों की गुस्सा तर्क नहीं समर्पण चाहती", गोदान। किन्तु नन्ददास की गोपियाँ तो अपने मूल्यों के प्रति समर्पित हैं अन्य शक्तियों के आगे तर्क करने से क्यों बाज आएँगी।

इन कृष्ण भक्तों ने जो रचना की है उसमें केवल धर्म और भक्ति ही नहीं है अपितु उसमें लौकिक जीवन के आग्रह के साथ मानवीय संवेदना और सामाजिकता का भी आग्रह है। यही कारण है उसमें एक ओर सिद्धों की ऐन्द्रियता भी है और रीतिकालीन काव्य की आधार पीठिका भी है। मानवीय सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का संकेत भी कृष्ण काव्य में पाया जाता है। अतः समय के सापेक्ष बदलने की भूमिका और परम्परा का सम्बन्ध एवं भविष्य की रचनात्मक संभावना भी कृष्ण-काव्य में बराबर रही है। युगीन मूल्यों की प्रक्रिया में कृष्ण-काव्य का अध्ययन आगे विभिन्न सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में किया जाना अपेक्षित है।

क—सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मूल्य और कृष्ण-काव्य।

मनुष्य-जीवन सार्थक एवं मूल्यवान है, उसमें एक आन्तरिक शक्ति होती है और अपनी चेतना से वह अपनी नियति निर्माण का स्वतः निर्णायक होता है। मनुष्य समस्त सृष्टि का केन्द्रबिन्दु है। इस भावना की पकड़ तक मनुष्य विकासशील

रहा है। आधुनिक युग तक यह भावना सर्वमान्य हो चुकी है। मनुष्य अपने समग्र अनुभव की प्रक्रिया मे सर्जनशील रहा है, किन्तु क्रमशः ईश्वर सत्ता से अपनी पहचान तक मे उसे इतिहास की यात्रा पूरी करनी पड़ी है। समग्र जीवन-बोध को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य विभिन्न मूल्य-बोध का शिकार होता रहा है। यही कारण था कि मनुष्य जीवन मूल्यों की प्रक्रिया में संघर्षशील रहा है। इस रुप में वैदिक साहित्य से आज तक के साहित्य मे मूल्य चेतना के स्तर पर एकसाथ ही आत्मा का और अनात्मा का, नित्यता का और इतिहास का व्यक्ति का और समाज का द्वन्द्वात्मक बोध मौजूद रहा है। इस पूरी प्रविधि मे भारतीय वागमय मे दो प्रकार के चिन्तको का स्वरुप दिखाई देता हैं। प्रथम रुढ़िवादी चिन्तक जो मानवीय गरिमा या मूल्य के विरोधी रहे हैं। दूसरे विद्रोही चिन्तक जो बार-बार नये-नये सन्दर्भो मे मानवीय गौरव और अस्मिता की प्रतिष्ठा मे प्रयत्नशील रहे। इस स्तर पर ज्ञानात्मक मूल्य को महत्व देनेवाला शिवत्व प्रधान आदर्शवादी मूल्यों का वाहक चिन्तक वर्ग अपने चिन्तन की रचनात्मकता में बाँधता दिखाई देता है तो दूसरी ओर प्रकृति को भोग के स्तर पर ग्रहण करने वाला चिन्तक वर्ग है। इन विचारणाओं मे यह सिद्ध किया जाता रहा है कि मनुष्य से बड़ा कुछ नही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की यात्रा तक अपनी-अपनी सीमाओं मे मानवीय गौरव प्रतिष्ठित रहा है। मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा ही हमारी परम्परा की एक महत्व पूर्ण उपलब्धि रही है। भारतीय परम्परा मे मूल्य-बोध की दृष्टियों के रुप में बुद्धिवाद, भोगवाद और मुक्तिवाद प्रचलित रहे हैं। इन दृष्टियो के विभिन्न रुपो और आयामों को प्रधानता और अप्रधानता मिलती रही है। विभिन्न मूल्य विभाग अपनी-अपनी साधना के अनुकूल दृष्टिओं को समर्पित करते है। वैदिक एवं उपनिषद् कालीन दृष्टियों में ज्ञानात्मकता और साधन-संग्रह आदि के रुप में अन्तर रहा है। लोकायत की परम्परा भोगवादी रही है और उसमें ज्ञान को साधन तथा इच्छापूर्ति को ही लक्ष्य माना गया। फलतः भोग्य पदार्थों के मुक्त उत्पादन, संग्रह और वितरण पर जोर दिया गया ज्ञानात्मक दृष्टि में सत्यात्मक मूल्य की खोज पर और दिया गया, जहाँ बुद्धिवादी दृष्टि को अपनाया गया। ज्ञान परक परम्परा में आनन्द को सुख के रुप मे स्वीकार किया गया। यह आनन्द ज्ञान के रुप में ही प्राप्य रहा, जहाँ भोग- च्युत होना आवश्यक रहा। भोगवादी विचार धारा ने सुख को मूल्य के रुप में स्वीकार किया, जिसमें मानव-जीवन की सत्ता को महत्व दिया गया।

मुक्त भोगवाद का क्षेत्र सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक रहा है। ज्ञानात्मक और भोगपरक भौतिकतावादी विचारों के क्रम में ही [illegible] का विकास हुआ।

मानवीय चेतना यथार्थ और आदर्श के विशुद्ध रूप का साक्षात्कार करती हुई पूर्णता की ओर उन्मुख रही जिसके द्वारा वह आत्यन्तिक तृप्ति प्राप्त कर सके। स्थूल और सूक्ष्म के परे वह मूल्य-बोध की परमभूमि को प्राप्त करने के क्रम में परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता रहा है। इसी प्रयास-क्रम में सात्त्विक मूल्य भावात्मक और दर्शनात्मक रहा और लौकिकतावादी भौतिक मूल्य कर्म-प्रधान और भोगप्रधान रहा है। मनुष्य एक साथ ही देहजीवी और बुद्धिजीवी दोनों रहा है। देहजीवी होने के स्तर पर भी वह बुद्धि की सहायता से आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में मूल्यों का अनुसंधान करता रहा है। प्राचीनों ने सुखभोग को इष्टभोग के रूप में स्वीकार किया और उसे किसी भी वस्तु के सुखात्मक भोग के रूप में स्वीकार किया। ज्ञान को मनुष्य का विशेष धर्म माना, उसकी उपलब्धि को नित्य और सत्य माना और सुखासक्ति को विकारी, अनित्य और व्यभिचारी माना। उपनिषदों में श्रेयस् को प्रेयस् से श्रेष्ठ तथा ज्ञान को भोग से श्रेष्ठ एवं निष्कामता को कामसे श्रेष्ठ माना गया। ज्ञान और निष्कामता के सुख या आनन्द को कामभोग से श्रेष्ठ और भिन्न निर्दिष्ट किया गया है। इससे भिन्न भी परम्परा रही है, जो व्यावहारिक कही जा सकती है। इसी के साथ आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों का विकास-क्रम होता रहा है। उपभोग परक तृप्ति के रूप में सुख को स्वीकार करने की एक परम्परा रही है। व्यक्ति हित को सुख की अधिकतम अवस्था के रूप में माना गया और लोकहित को अधिकतम व्यक्तियों के सुख के रूप में स्वीकार किया गया। सुख के अधिकतम सम्पादन के लिये द्रव्य की उपयोगिता को समान रूप से स्वीकार किया गया।

भारतीय साहित्य का विकास व्यावहारिक और सात्त्विक के भेद के साथ अग्रसरित रहा है। व्यावहारिक मूल्य कर्म-प्रधान रहा और सात्त्विक मूल्य बुद्धि प्रधान। कर्म-प्रधान परम्परा अहंकार और भोग परक रही है, जबकि सात्त्विक भूमि में कर्म निजी अहंकार और भोग से परे रहा। निःस्वार्थ कर्म और भोग च्युत होकर सात्त्विक मूल्य साक्षात्कारात्मक होता है। व्यवहार में ज्ञान की खोज एक साधन के रूप में रही और उस ज्ञान को अर्थोपयोगी प्रमाणित किया गया। इसमें मूल्य की स्थिति शारीरिक अपेक्षा पर निर्भर करती रही है और तात्कालिकता को महत्व दिया गया। इस प्रकार व्यावहारिक मूल्य उत्पाद्य एवं भोग्य रहे

है जब कि सात्विक मूल्य अन्वेषणीय एवं उपास्य रहे हैं। व्यावहारिकता में उपयोगिता को महत्व दिया गया। इन द्वन्द्वात्मक विचारधाराओं का सतत् संघर्ष चलता रहा है और युगानुकुल विकास और परिवर्तन भी होता रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक आदि मूल्यों मे परिवर्तन आता रहा है। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा।

साहित्य का समाज से अभिन्न सम्बन्ध है। समस्त मूल्य समाज मे ही अन्त सम्बन्धित होते हैं। साहित्य या कला सामाजिक चेतना के प्रसार का प्रमुख साधन है। रचनाकार यदि अपने प्रति उत्तरदायी है तो वह जीवन के प्रति अनिवार्यतः उत्तरदायी है। मानव-जीवन सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया में सदैव विकासशील रहा है। परिणामतः सामाजिक प्रगति स्वयं एक प्रधान मूल्य है। समस्त भारतीय साहित्य में वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर विकास दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य में लौकिक साहित्य का विकास इसका प्रमाण था। लेकिन अभी भी जन-जीवन को मूल्य के स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया था क्योंकि साहित्य मे आभिजात्य का आग्रह अवश्य था। नाटकों में सार्ववार्णिकता या सामाजिकता का आग्रह दिखाई देता है। वैदिक साहित्य, उपनिषदों की रचना, लौकिक संस्कृत साहित्य तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की सर्जना में सामाजिक मूल्य की दृष्टि से विकास दिखाई देता है। परम्परा के साथ प्रेयस् प्रधान साहित्य-सर्जना का विकास सामाजिक आग्रह का परिणाम रहा है। समाज व्यवस्था के अनुसार सामाजिक मूल्य बदलता गया। फलतः न्याय और नैतिकता का प्रश्न भी बदलता गया। मनुष्य अनेक अर्थों में सामाजिक जीवन को चुनता रहा है। इसी क्रम में मानवीय शक्ति, उपकरण, संगठन और भोग निरन्तर गति से उन्नति करता गया और इसी क्रम में व्यावहारिक मूल्यों की साधना विकसित होती गयी। इसका परिणाम साहित्य पर घटित होता चला। क्रमशः भौतिकता को धर्म और आध्यात्म के साथ आत्मसात् किया गया और साहित्य में प्रवृत्यात्मकता का समावेश होता चला।

हिन्दी के आदि कालीन साहित्य में जन-वादी दृष्टि काफी उभर चुकी थी और अपने मूल्यात्मक सन्दर्भ को भी खो चुकी थी। भक्ति काल की रचना तक उसमें परिवर्तन की आवश्यकता थी। भक्ति काल में सामाजिक व्यवस्था बहुत कुछ आदिकाल जैसी ही थी किन्तु सम्प्रदायों की बढ़ती संख्या, धर्माचार्यों की

समृद्धि तथा मुसलमानों के साम्राज्य स्थापित हो जाने के कारण सामाजिक ढाँचे में बदलाव अपेक्षित था। साधु सन्तों के अलमस्त जीवन और सादगी के कारण सामाजिक समन्वय की अपेक्षा बढ़ गयी थी। नये मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता थी। यह भी संक्रमण की स्थिति थी। शैव, वैष्णव, नाथ, सिद्ध और जैन आदि सम्प्रदायों में संघर्ष और विघटन की स्थिति थी। शंकराचार्य के अद्वैतवादी सिद्धान्त के प्रभाव से भक्ति का जो स्वरूप टूट गया था, वैष्णवों और सन्तों के द्वारा उसी भक्ति को पुनः नये सन्दर्भ में रख दिया गया। आडम्बरों और पाखण्डों के कारण जर्जर समाज-व्यवस्था को मूल्य देने के प्रयास में ही भक्ति कालीन साहित्य की रचना हुई। इस्लाम ने भारतीय चिन्ता को उद्वेलित किया। किन्तु वही भारतीय चेतना का मात्र उपादान नहीं था। समाज में सम्भावनाएँ संयोजित हुई और उनका संरचनात्मक संघटन हुआ। भारतीय संस्कृति पर खतरा आ चुका था। अतः मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा और साधनों के स्तर पर सहजता की माँग के अनुकूल भक्ति-काव्य की रचना हुई। चूँकि धर्म को सामाजिक संगठन का आधार माना जाता था, अतः इस युग में सामाजिक गति को धार्मिक नियति के साथ संयोजित करने का प्रयास किया गया था। इस सामाजिक अराजकता के साथ विदेशी शक्ति को प्रत्युत्तर देने का दायित्व जटिल था। अतः मूल्यों को धार्मिक आवरण में संयोजित करना पड़ा और मनुष्य के रूप में ईश्वर को उतारा गया। उसको युगीन मूल्यों के चरम रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके साथ बाह्याचार, पाखण्ड, आत्मप्रदर्शन, अहम्मन्यता, साम्प्रदायिक संकीर्णता का विरोध भी आवश्यक था। जनता के सामने अपने दायित्व की दिशा और पहचान का प्रश्न था। उसके लिये महामानव की कल्पना की गयी। अहिंसा की समाज में परम आवश्यकता थी अतः भूत दया को साहित्य में समाहित किया गया। मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़ने के प्रयास में ही मध्य युगीन सन्तों एवं भक्तों ने दिव्य सत्ता को ही मानवीय धरातल पर खींचा।

कृष्ण भक्तों ने धार्मिकता को स्वीकार अवश्य किया किन्तु वह उनकी सामाजिक जीवन की यथार्थ या मूल्यात्मक अपेक्षा की अभिव्यंजना में बाधक नहीं हुई। भक्ति कालीन काव्यान्दोलन का केन्द्रबिन्दु यही था कि ईश्वर के सामने सभी चाहे ऊँची जाति के हों या नीची जाति के हों सब समान हैं। सामंती ताकतों को उखाड़ फेंकने के लिये, एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये यह आवश्यक था कि पूरे समाज का सामान्यीकरण किया जाय। इस आधार पर हीनता और

उच्चता का भाव शमिल हुआ। और एक व्यापक जनवादी मानववादी संस्कृति की रचना के द्वारा अपने समाज की चुनौतियों को ठुकरा दिया गया। इनके आराध्य देव ने गरीब सुदामा को गले ही नही लगाया पाँव भी धोया और सम्मान दिया। प्रेम से जन की सेवा करना ही परम लक्ष्य था। ऐसी भक्ति को स्वीकार करके भक्त अपने को परम पुरुषार्थ तक पहुँचा दिया था। सर्व सामान्य की भूमि पर जाति पाँति के भेद-भाव को मिटा देना ही तो भक्ति के क्रान्ति का केन्द्रविन्दु था। इसको बड़े गौरव के साथ भक्त कवि कह देता है।

भक्ति में कहाँ जनेऊ-जाति।
सब दूषन भूपन विप्रन के, पति छ् घरनि घिनाति॥

* * * *

संध्या-तरपन-गायित्री तजि, भजि माला-मन्त्र सजाति।
व्यास दास कें सुख सर्वोपरि वेद विदित विख्याति॥ व्यास, पद-१०४५।

भक्त ही नही उन के प्रभु भी प्रेम करने मे किसी की जाति-पाँति नहीं देखते। यही तो आदर्श का यथार्थ रुप है और क्या चाहिए?

काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहि नहि परति है, व्याधि अजामिल तारत।
कौन जाति अरु पाँति विदुर की, ताही कें पग धारत।

* * * *

यहै सुभाव सूरके प्रभुको, भक्त-वछल प्रन पारत। सूर सागर, पद—१२।

गोविन्द प्रीति सबनि की मानत। —वही पद, १३।

जन की और कौन पति राखै?
जाति-पाँति कुल कानि न मानत बेद-पुराननि साखैं वही पद १५।

उस समय उच्च कुल मे पैदा होना ही गौरव की बात थी यही उस युग का यथार्थ था इसी के परिप्रेक्ष्य मे इस सर्वसमानतावादी अभिप्रेत मूल्य को व्यक्त किया गया है। बड़ी जाति के लोगों का अवगुण अवगुण नही था। गदाधर भट्ट ने कहा है…

बड़ेलोग के औगुन बरनत सकुच होत जिय भारी जू।
(श्रीगदाधर भट्ट की वाणी, पृ० ५२, पद, ७२)।

गरीबन के सहायक स्याम बस उन के लिये ही इस संसार में लीला कर रहे हैं बस उन्हें और भक्ति आन्दोलन के कवियों को वे ही अभीष्ट हैं।

स्याम गरीबनि हूँ के गाहक
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साचे प्रीति निबाहक। सूर सागर पद. १९।

नाथ अनाथनि ही के संगी।
दीन दयाल परम करुनामय, जनहित बहुरंगी।

* * * *

गोबिन्द गाढ़े दिन के मीत। पद. ३१।
हरि के जन सब तें अधिकारी। पद. ३४।

व्यापक जातीय जीवन में सांसारिक मूल्यों का अधिकारी तो जन सामान्य ही है। उसको उसके अधिकार तक पहुँचाने का भाव तो ये कवि ही भर सकते थे। जन-जीवन के कष्ट का प्रतिनिधित्व करते हुए भक्त उसकी वेदना का साक्षी है। वह कष्ट की चरम सीमा में अब उकता गया है। अब वह कष्ट सह नहीं सकता। अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल। इसमें जन का दोष नहीं यदि दोष भी है तो वह संसारी मनुष्य है अतः उसका भी जीवन उसी व्यापक जीवन का अंग है। अतः वह निरवटके कह देगा।

जो हम भले बुरे तो तेरे। सूरसागर १७०।

कवि अपने माध्यम से चाटुकारिता करके जीनेवाले सामन्ती जीवन के नीचे असम्मान से जीने वाले जन को लेकर कृष्ण के पास खड़ा है। रोटी के लिये अपमान सहना उसे कदापि पसन्द नहीं, उसे बड़ा कष्ट है किन्तु सामाजिक व्यवस्था में वह विवश है। अब वह गतिहीन और मतिहीन हो चुका है अब जन-क्रान्ति के नायक के सामने यह प्रेषित करता है ....

मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सब सुख-निधि पद कमल छाँड़ि, स्रम करत स्वान की नाईं।

* * * *

कौर-कौर-कारन, कुबुद्धि, जड़, किते सहत अपमान। सूरसागर. पद. १०३।

अब जन को अपने दुःख का बोध हो गया है। अब तो वह डाँटने पर भी

कृष्ण को नहीं छोड़ेगा वह चौकस है और साहस के साथ कृष्ण को भी लड़ने के लिये ललकार देगा। यही आत्मवल तो दुःख-बोध के साथ जन-जीवन में कृष्ण-भक्त को भरना है।

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमही कै हमही माधौ, अपने भरोसें लरिहौं। सूर सागर, पद—१३४।

*　　*　　*　　*

कवि जन को कितना स्वावलम्वी वनाना चाहता है। अपने अधिकार तक जो समाज ने उससे छीन लिया है वह लेकर ही रहेगा। खुद राम के रामत्व तक पहुँच कर चरम मूल्यों मे जीना चाहता है। सारा आन्दोलन जन को, समाज में त्यक्त और उपेक्षित जन को केन्द्र बनाकर ही चला था और यही जन-क्रान्ति की अपेक्षा होती है। इस प्रकार कृष्ण भक्ति आन्दोलन मे केवल धर्म और रहस्य पूर्ण आध्यात्म ही नहीं है। उसमे तीखी सामाजिक चेतना और जीवन का सच्चा यथार्थ भी है। इसका प्रभाव पड़ा कि तमाम सामाजिकवर्ग एक भूमि पर आ खड़ा हुआ। जाति-पाँति का भेद-भाव दूर हुआ और स्त्री-पुरुष का भेद-भाव भी दूर हुआ। अब स्त्री की वह स्थिति नहीं कि वह चाहार दीवारी में ही वन्द रहे उसे प्रेम आदि के लिए स्वच्छन्दता नहीं। वह तो समाज मे स्वच्छन्द उपभोग कर सकती है। गुरुजन की लज्जा, परम्परित रुढियों का शिकार उसे नहीं होना है। वह प्रेमिका है और खुले आम अपने प्रेम का प्रयोग करेगी। कृष्ण और ग्वालों के साथ रासलीला करेगी। अनुपयुक्त पति के कठोर वन्धन मे दण्ड सहने के लिए वह वाध्य नहीं होगी अपेक्षित पति कृष्ण को पाने का अधिकार उसे है वह अपने स्वायत्त मूल्यों को प्राप्त करने के लिये पति का परित्याग भी कर देगी किन्तु स्वेच्छा से। सामन्ती संस्कारों के अनुसार कृष्ण उन्हें पति परित्याग करने के लिए बाध्य, नहीं कर सकते और यदि कोई भी नारी कृष्ण को पतिरुप में पाना चाहती है तो पिता-माता भी वाधक नहीं हो सकते। गोकुल और ब्रज के द्वारा जिस अपेक्षित मूल्यों से पूर्ण जीवन की कल्पना की गयी है वह समग्र रुप से अपने लक्ष्य तक पहुँचा हुआ जीवन है। जहाँ सहजता और स्वाभाविकता को ही प्रश्रय दिया गया है। प्रेम में किसी प्रकार की मर्यादा वाधक नही हो सकती क्योंकि संकीर्ण समाज की कल्पना ही नहीं की गयी थी। 'चूँकि उस समय पर पुरुष से स्त्री के किसी प्रकारके मानवीय

सम्बन्ध में संस्कृति के स्खलन समझा जाता था। इसका परिणाम यह था कि सामूहिक जीवन का एक पहलू सारे परिणाम और प्रयास से अछूता था। अतः सामाजिक जीवन में घनत्व आना सम्भव न था। सारे मानवीय चरित्र के रहते हुए भी एक मात्र—स्वाभाविक प्रेम-व्यवहार के कारण नारी संस्कृति-च्युत समझी जाती थी और भारतीय संस्कृति का आधार वहः कमजोर हो गया था। अतः प्रेम को स्वाभाविक प्रक्रिया का रूप देना तथा नारी की स्वायत्तता अपेक्षित युगीन प्रयास बन गयी थी। अतः प्रे-लीला के स्वच्छन्द व्यवहार के साथ स्त्रियाँ सामाजिक कार्य में पूर्णतः उत्तरदायी थीं। उनमें पूरा आत्मबल था। लोक मर्यादा कुल की कानि, गुरुजन आदि का भय उनमें नहीं था क्योंकि प्रेम तो सामाजिक जीवन की गतिशीलता के लिये साध्य और साधन दोनों था जो शक्ति भी था, शक्ति का स्रोत भी था। एक दूसरे को सामाजिक सहयोग में बाँधने का आधार वय-क्रम में बदलती भूमिका के साथ प्रेम में ही था। कुछ विशेष रूढ़ियों और मान्यताओं के बीच जकड़े समाज को गति देनेवाला यही—सहज मानवीय प्रेम ही था जिसमें श्यानता थी। तभी तो प्रेम करके भी ब्रज की नारियाँ (भक्त जिसने खुद को नारी माना)। निश्चिन्त और बेफिक्र थीं।

पौढ़ी पिय-संग वृषभानु-कुमारी।

* * * *

चरन चरन धरि भुजनि जा टिके अधर-पान मधु करत सुधारी।

छीतस्वामी, पद १५७।

यदि प्रियतम के संग नायिका राधा जगी हैं तो उन्हें भय नहीं है कि कोई उनके भाव को जान लेगा बल्कि वह सबको जाहिर है। ……

पिय-संग जागी वृषभानु-दुलारी।
अंग-अंग-आलस जँभात अलि-कुंज-सदन तें भवन सिधारी। वही पद-१६३।

मीरा ने तो उस सहज प्रेम को स्वीकार कर लिया है। अब उन्हें किसी की परवाह नहीं है। ……

साधन के ढिग बैठ बैठ के लाज गमहि सारी।
नितप्रति उठ नीच घर जाओ, कुल को लगाओ गारी।

—मीरा बृहत् पद संग्रह-१६।

सन्तों के साथ बैठने नीचों के घर जाने तथा कुल को गाली लगानेवाली प्रगतिशील मीरा डंके के चोटपर कृष्ण के प्रेम का वरण करती है।

माई मैं तो लियो रमैया मोल।
कोई कहै छानी, कोई कहै चोरी, लियो है बजता ढोल। —मीरा, वही ९।

माई मैं तो गिरधर रंग राची।
मेरे बीच पड़ो मत कोई, बात चहूँ दिस माची।

* * * *

मीराके प्रभु गिरधर नागर, मो मति नाहीं काची। —मीरा, पद, ३००।

सच्चा प्रेम है इन भक्तों का वे लज्जा को जीवन-उपलब्धि में बाधक मानते हैं।

सखी री लाज बैरन भई।
श्री लाल गुपाल के संग, काहे नाहिं गई। मीरा—३१९।

सच्चे प्रेम की तन्मयता और वास्तविकता में ही सच्चे समाज की कल्पना की गई थी। रसखान की प्रेमिका तो टेरि कर कहना चाहती है कि कोई कितना हूँ समझावे वह प्रेम करने से न मानेगी।

* * * *

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझै है।
माई री वा मुख की मुसकानि, सम्हारि न जै है न जै है न जै है॥
—हिन्दी काव्य संग्रह।

* * * *

ऐसी आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागी दोउ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसाइबो।
दोउ परैं पैयां, दोउ लेत हैं बलैया,
उन्हें भूलि गईं गैयां, इन्हें गागर उठाईबो।

प्रेमी प्रेमिका में कोई किसी से कम नहीं है। अतः नारी के महत्व को समाज में प्रतिपादित करना और उसे भी सामाजिक स्वतन्त्रता देना इन भक्त कवियों का प्रमुख प्रयास रहा है। इसीलिये कृष्ण-भक्तों ने बाल कृष्ण की उपासना पर काफी जोर दिया है, क्योंकि बालक के साथ माँ की और उसके वात्सल्य की

मूलक का प्रमुख होती है। यहाँ तक होता नहीं माँ और अन्य स्त्रियाँ अवश्य होंगी। इसीलिये इन भक्तों ने कृष्ण को माँ के रूप में यशोदा के पास और सखा तथा प्रेमी के रूप में गोपियों और राधा, रुक्मिणी आदि के पास हमेशा रखा है। इन भक्तों ने नारी की कुचली हुई अस्मिता की रक्षा की। उन्हें सामाजिक मुक्ति दी। नारी अपने मानसिक व्यवहार में स्वतन्त्र और पूर्णतः महत्वपूर्ण हो सकी। परम पुरुष की उत्पत्ति भी नारी से और साहचर्य भी नारी के साथ है। इस प्रकार नारी पुरुष के बन्धनों से मुक्त समाज की कल्पना इन भक्त कवियों ने की थी।

कृष्ण-भक्तों ने जिस प्रेम का वर्णन किया है उसमें सचाई है, गहराई है तन्मयता और स्वाभिमान है, स्वच्छन्दता है, अभेद है, समर्पण है गति है जो सयोग, वियोग सख्य और वात्सल्य में पूरा हुआ है। यथार्थ लोक जीवन के सापेक्ष इसी प्रकार के प्रेम की आवश्यकता उस समय थी। इन भक्तों ने उस काल की सामाजिक विशृंखलता, ब्राह्मणों, शाक्तों, सिद्धों के अधःपतन तथा मूल्यों एवं मान्यताओं के संक्रमण की अवस्थिति का संकेत भी किया है। मीरा ने रूढ़ि में बंधी नारी के जीवन की ओर संकेत किया है। वे उससे छूट चुकी हैं। इसी प्रसंग में उन्हों ने चोरी मारगी जैसे सामाजिक कुकर्मों की ओर ध्यान दिया है। ऐसे संसार की परवाह भी उन्हें नहीं है क्योंकि वे तो उससे ऊपर आ चुकी हैं। ......

चोरी करूं न मारगी, नहिं मैं करूं अकाज।
पुन्न के मारग चालतां, झक मारो संसार।
नाहिं मैं पीहर सासरै, नहिं मैं पिया जी की साथ।
मीरा ने गोविन्द मिलिया जी, गुरु मिलिया रैदास। —मीरा, ४।

व्यास कवि के निम्न पदों में तत्कालीन समाज की व्यवस्था परव्यंग्य मिलता है।

जग जीवन है जीवनि जग की।
ऐसे कपटी नटनाटकु पिटभरि करत ठगौरी ठग की॥
पंडित, तुंडबल भोगी। आसा बढ़े कुटुंबहि भग की।
सो को व्यास न बच्यौ दुरासा, ज्यौं गनिकाहिं कठिन कुच—मग की।
—व्यास, १०२।

यथार्थ की व्यंजना करते हुए से कवि केवल पंडित मुल्लाओं तक ही नहीं रहे

गणिकाओं का कुच भग भी इनकी नजरों से ओझल नहीं हुआ क्योंकि उसक भी समाज पर सीधा प्रभाव था। वे आगे कहते हैं—

> ब्राह्मन के मन भक्ति न आवै। भूलै आप, सबनि समुझावै ॥
> औरनि ठगि-ठगि अपुन ठगावै। आपुन सोवै, सबनि जगावै। व्यास, २१३।

उस समय ब्राह्मण कितना झूठा ज्ञान देता था क्योंकि वह रुढ़ियों में आबद्ध था। उन्होंने साकत ब्राह्मन, गूगी ऊँट तक कह डाला है और इससे भी आगे कहते हैं, करि मन साकत की मुँह कारो। कितना आक्रोश था इन भक्तों के मन में उस सामाजिक रुढियों के प्रति, व्यभिचार और पाखण्ड के प्रति जिसे वे तोड़कर फेंक देना चाहते थे। हथौड़ा मारकर चकनाचूर कर देना चाहते थे।

सक्षेप में कहा जाय तो इस कालके कवियो ने समाज के विभिन्न पहलू पर यथार्थ और अपेक्षा के क्रम में अपनी अभिव्यंजना प्रस्तुत की है। नन्द के परिवार को केन्द्र बनाकर इन कवियों ने व्यापक जीवन की अभिव्यंजना की है। हरगू लाल के सामाजिक अध्ययन मे इसकी पूरी झाँकी खड़ी की गयी है। 'कृष्ण अपने इस रुप मे वैभव को तिलाजलि देकर सर्वसाधारण में आ मिलते हैं इस रुप में उनके जीवन को समाज के जीवन से पृथक करके नहीं देखा जा सकता है। गोप-गोपियों के बीच घिरकर वे अनेक ऐसे कार्य करते हैं जो उस युग के सामाजिक जीवन को अभिद्योतित करते है। कृष्ण के इस जनवादी रुप का निर्माण समाज के बीच में ही हुआ है। लोक विरोधी तत्वों का इसमें नितान्त अभाव है। मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण को यशोदा, राधा तथा अन्य गोपियों के बीच में रख कर तत्कालीन सभी संस्कारो, धार्मिक विश्वासों, प्रथाओं, रहन-सहन, कला, अनेक व्यवसायों, दैनिक उपयोग की वस्तुओं, परम्परागत रुढ़ियों, पर्वों और उत्सवों धर्म एव दर्शन सम्बन्धी विचारों, सम्मोहन, जादू, टोना, ताबीज, भाग्य, डिठौना। राजनीतिक परिस्थितियों आदि का आँकलन जिस पटुता से किया है वह उस युग के समाज का पूर्ण चित्र है। माँ बेटे की सार्वजनीन कहानी द्वारा सामान्य जीवन को जितना इन कवियों ने समझा है उतना शायद और किसी ने नहीं समझा" (मध्य युगीन कृष्ण-काव्य मे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, हरगूलाल, पृ० ३)।

इसके बाद यह भी जान लेना आवश्यक है कि केवल इन कृष्ण भक्तों ने समाज का चित्र ही नही पेशकिया हैं अपितु उसी जीवन के मार्फत युगीन अपेक्षाओं के सन्दर्भ में

सामाजिक मूल्यों की भी अभिव्यंजना की है। इन कवियों ने दूसरे शब्द मूल्यों में जैसे समाज का चित्र ही नहीं दिखाया अपितु उसके लिए निश्चित रूप से मूल्यों से पूर्ण जीवन का विकल्प भी दिया, क्योंकि इनका आन्दोलन सोद्देश्य था। इनका लोक-जीवन से तादात्म्य था और यथार्थ का सम्यक बोध इन्हें था। वस्तुतः इनके द्वारा जो सांस्कृतिक मूल्य चेतना प्रस्तुत की गई वह ग्रामीण समाज है जिसमें कर्मठता है दैनिक जीवन का प्रेम सम्पूर्ण जीवन में परिव्याप्त है। परिश्रमपर आधारित जीवन में प्रेम को मुदिता और मैत्री के सहारे पैपणीयता में आनन्द का स्तर प्रदान किया गया है।

मनुष्य एक साथ ही देहजीवी और बुद्धिजीवी दोनों है। देह मूलक अपेक्षाओं के आधार पर बुद्धि की सहायता से मनुष्य राजनीतिक संस्थाओं में मूल्यों की खोज करता है। जब आवश्यकताओं में उत्पन्न होनेवाले मूल्य राजनीतिक मूल्यों में विकास लाभ करते हैं। "राज्य मानवीय सम्बन्धों का परम व्यवस्थापक है अन्य सभी व्यवस्थाओं की संहिता का प्रामाणिक संस्करण तभी बनता है जब वह राजदण्ड की मुद्रा से अंकित होता है। राज्य की प्रभु सत्ता उसका एक पक्ष है, इस शक्ति से समर्थित व्यवस्था और नीति दूसरा पक्ष है। प्रायः राजनीति व्यवहार शक्ति का अनुसंधान मात्र रह जाता है। ... ऐसी स्थिति में दण्ड समर्थित राजकीय आदेश अथवा लोभादि मूलक राजनीतिक प्ररोचना किस प्रकार धर्म को प्रतिष्ठित करने के साधन बन सकते हैं, यह संशय दुर्निवार है। स्पष्ट ही राजनीति धर्म का साक्षात् उपकार नहीं कर सकती है, किन्तु वह उसके मार्ग में कण्टक शोधन द्वारा सहायता करती है" (गोविन्द चन्द्र पाण्डेय' मूल्य मीमांसा पृ० ११२)। राज्य वह नियामक सत्ता है या रही है जो मनुष्य के सामाजिक मूल्यों को अनुशासन प्रदान करती है। जनता की शक्ति तन्त्र में बँधकर उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करती है और उसे स्वच्छन्द होने से बचाती है। शक्ति की वृद्धि और जनता की समर्पण-भावना के कारण इस तन्त्रतात्मक व्यवस्था में विकार आया और उसने समाज की संस्कृति और जनरुचि को विवश भी किया संघर्ष और विद्रोह के कारण विकृति और परिशुद्धता का दौर चलता रहा है और उसका प्रभाव लोक-चेतना पर भी पड़ता रहा। राज्य संस्था के सन्दर्भ में आदर्श और यथार्थवादी विचार धाराएँ रहीं हैं। इसका कारण था कि राजतन्त्र अपने उद्देश्य से विचलित होता गया। राज्य की प्रतिष्ठा के साथ प्रभु सत्ता में ईश्वर का आरोप होने लगा। इस बढ़ती शक्ति के कारण राजतन्त्र में निजी सम्पत्ति

के प्रति मोह बढ़ा और राज्य के अन्तर्गत भौतिक तथा नैतिक बुराईयाँ उत्पन्न हुई

वस्तुतः राजतन्त्र कुछ व्यक्तियों और वर्गों में केन्द्रित हो जाता है और लोक-जीवन की या उसकी चेतना की उपेक्षा भी होती है। लोक-चेतना को स्वीकार करनेवाले राजतन्त्र के अन्तर्गत ज्ञानात्मक आदर्शका विनाश होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि राज्याश्रय में हुए या अरण्य में होनेवाले चिन्तन को राज्य की अनुकम्पा प्राप्त हुई। राजतन्त्र की व्यवस्था हो जाने के बाद उसका प्रभाव अवश्यमेव पड़ा। ऋषियों की तपस्या की सुरक्षा राजतन्त्र के ऊपर थी तो सामाजिक, सास्कृतिक मूल्यों को दिशा देने का दायित्व सर्जनशील व्यक्तित्व पर था। उसके प्रचार-प्रसार मे राज्याश्रय की अपेक्षा बनी रहती थी। कभी-कभी सर्जनशील व्यक्ति ने सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक विद्रोह किया तो उसे राज्याश्रय की अवश्यकता नहीं थी, किन्तु उसके विचारों की परम्परा सम्प्रदाय के रुप में राजतन्त्र के अन्तर्गत ही फूली-फली। बौद्ध धर्म और जैन-धर्म की सम्प्रदाएँ और उनकी विचारधाराओं को राज्य की शरण गहनी-पड़ी, जो क्रान्ति की प्रतिफल थीं। मौर्यवश के बाद से कभी उभरता और कभी दबता बौद्ध-धर्म वज्रयानी शाखा तक राज्याश्रय प्राप्त करता रहा किन्तु राज्याश्रय के समाप्त होते ही मुसलमानों के शासन में बौद्ध-धर्म का स्वरुप समाप्त सा हो जाता हैं किन्तु जैन सम्प्रदाय पर मुसलमानों की दृष्टि अच्छी थी अतः वह अपने विभिन्न सम्प्रदायों में चलता रहा। भक्तिकाल में जो काव्यान्दोलन उभरा वह राज्य की प्रभुसत्ता से पृथक रहा किन्तु राज्याश्रित रचना का कभी भी अभाव नहीं रहा। राजवशों ने विभिन्न सस्कृतियों को दिशा भी दी और उन्हे कार्यान्वित भी किया।

भक्तिकाल में मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हो गया था। सामन्ती सस्कारों में वर्ग विभाजन राज्य के अनुकूल होता है। अतः इस सामन्ती और साम्राज्यवादी युग में वर्गाश्रित समाज रहा। यद्यपि संस्कृति की स्थापना के साथ राजनीति विचलता से स्थिरता की ओर उन्मुख हुई। परिणामतः काव्य ने निश्चित गति प्राप्त किया। लोक धारणाएँ निर्दिष्ट होने लगीं और सामाजिक विचलता मर्यादित होने लगी। फलतः सरचनात्मक संघटन शुरु हुआ। राजपूतों का सम्मान छीन चुका था। मुसलमानी शासन के साथ मुसलमानी धर्म और सस्कृति का भी प्रचार प्रसार हो रहा था। निम्न वर्ण की स्थिति पुनः खराब हो चुकी थी। कृषि की स्थिति ठीक नहीं थी। निम्न जातियों की धार्मिक भूमिका नहीं रही।

देसी राजाओं के महत्त्व के साथ भारतीय [illegible] का सम्मान भी जाता रहा। इस देश में सामाजिक संगठन धार्मिक निष्ठा के साथ होता रहा है। भक्ति काल में भी यही हुआ। वैष्णव धर्म की सहज साधना का विकास हुआ। मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा का प्रश्न था, उसे समग्र मूल्यों के चरम रूप में भक्त कवियों ने प्रतिष्ठित किया। आत्मबल और अहिंसाभाव की अपेक्षा ने परम्परा को सम्प्रदाय से पृथक मूल्यगत संस्थानों के रूप में स्थापित किया। समाज को नये सिरे से या आदर्श के साथ परिशोधित करने का प्रयास किया गया। युग-सन्दर्भ के क्रम में यह काव्यान्दोलन भी सम्प्रदायों में बँधता गया। इस काल का रचनाकार राज्याश्रित नहीं था किन्तु वह राज्य की गतिविधियों को पहचानता अवश्य था और उसकी स्थिति तथा सम्भावना के प्रति सतर्क था। मुसलमानी शासन के आतंक, निर्ममता और लोभ लिप्सा के विरोध के साथ भक्ति कालीन साहित्य का सम्बन्ध था। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, समसामयिकता-बोध, परम्परित रूढ़ियों एवं परम्परा के त्याग और अपेक्षित स्वीकार के साथ भक्तिकालीन साहित्य में उस समय की राजनीतिक व्यवस्था भी रचनातत्व के रूप में मानी जा सकती है।

अपने युग के राजनीतिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में ही इनभक्तों ने एक एसे राजा की और राज्य की कल्पना की, जो युगीन क्रान्ति के लिए अपेक्षा थी। जन का ठाकुर है कृष्ण लेकिन बिल्कुल जन-जीवन के बीच निमज्जित है। नन्द एक सामन्त हैं और कृष्ण उनके बेटे हैं। यही कृष्ण जन के नेता और जन के ठाकुर हैं। जन के बीच काम करते हैं, क्रीड़ा करते हैं और जन-जीवन के बीच सहज भाव से जन की सेवा में संलग्न हैं। नन्द, कृष्ण और जन के बीच जरा भी भेद-भाव नहीं है। भोजन करत नन्दलाल, संग लिए ग्वाल बाल करत विविध ख्याल वंसीवर छैया —छीत स्वामी, पद ७७। राजा को ऐसा ही होना चाहिए। कितना सहज है यह राजा? कभी भी सामन्त की व्यवस्था में चिपटा नहीं है। सामन्त होकर जन के बीच जन के उद्धार के लिये उतर पड़ता है। बुद्ध ने भी तो यही किया था। खैर कभी-कभी ऐसा उद्धार आभिजात्य वर्ग भी हुआ जिसने आगे बढ़ कर जन-क्रान्ति की। कृष्ण तो काफी सहज हैं। बासी भोजन करते हैं, ऐसे राजा की सामान्यता देखते बनती है।

करत कलेऊ मोहनलाल।

* * * *

छीत स्वामी वन गाई चरावन चले लटकि पसुपाल। —वही पद, ७१।

कृष्ण एक सामान्यजन की भाँति नित्य कर्म करते हैं

मंजन करत गोपाल चौकी पर। —वही पद. ७७।

कितनी सहजता है फिर मूल्यों की स्थापना के लिये क्यों कष्ट होगा? सच्चे राजा का व्यवहार यही होना चाहिए। राज्य का लक्ष्य भी यही है कि जन की शक्ति से जन का ही कल्याण करे किन्तु राज्य की जो व्यवस्था हो चुकी थी उसमें जन की शक्ति का प्रयोग जन के शोषण और दमन के लिये किया जा रहा था। कृष्ण सच्चे रूप मे राज्य और समाज के अपेक्षित मूल्यों की अभिव्यंजना बनकर व्यक्त हुए हैं।

ठकुरायत गिरिधर की साँची।
कौरव जीति जुधिष्ठिर-राजा, कीरति तिहूँ लोक में साँची।

—सूरसागर, पद, १८।

ऐसे जनवादी नेता के लिये ही जन मुक्त भाव से अपने प्रेम, भाव और शक्ति को समर्पित कर देगा बस अपनी और उसकी शक्ति को क्रियात्मकता देने के लिये। यह शक्ति के आगे घुटने टेक देनेवाला समर्पण नहीं है। यह तो सहज सहयोग की सीमा, में एकमेक होने की प्रक्रिया है। जहाँ लोभ नहीं सकोच नही, सामाजिक एकात्मकता है। उससे नारी भी मान न करेगी बस उसकी जीवन्तता को बनाये रखने के लिये समर्पण अपेक्षित है उसको सम्पूर्ण रुप से अपना लेने के लिये।

मानिनी एतो मान न कीजै।
ये जौवन अंजलि की जल ज्यों जब गुपाल माँगे तब दीजै।

—परमानन्द सागर, पद—४१३।

क्रान्ति में युवक और युवती की शक्ति ही कार्य करती है। पता नहीं कब उस यौवन की आवश्यकता होगी यह तो क्रान्तिकारी नेता ही जानता है। उस समय यौवन का समर्पण करना ही है। आनाकानी करने से काम नहीं चलेगा।

राज्य और राजा की यह अभिव्यजना जिस यथार्थ के सन्दर्भ में हुई है उसमें साम्राज्यवादी विचारों के कारण पिता, बहन, भाईआदि किसी की भी उपेक्षा कर सकता है। अपने राज्य की अभीप्सा मे वह पिता को बन्दी बना लेगा, बहन को भी कारागार में डालदेगा। कंस का राज्य यथार्थ की पीठिका पर आसीन है। अब आवश्यकता है कि जन क्रान्ति के द्वारा उसका विनाश कर दिया

जन्म। अपने अत्याचार को ऐसा राजा धर्म समझता है उसके खिलाफ क्रान्ति करनेवाले को तलवार या अग्निसे कुचल देना चाहता है। उसके पास शक्ति होती है और उसका प्रयोग वह जन-शक्ति के दमन में करता है कंस कृष्ण और बलदेव को भी दमन कर देना चाहता है।

देखि कंस अति भयौ दुखारी, सेनापति बुलाय दै गारी ॥

* * * *

लै तलवार ढाल सब कोऊ, डारहु मारि नन्द सुत दोऊ।
डारै मारि मक्ष सब मेरे, तनक छोहरा अहिरन केरे ॥

ब्रजविलास, ब्रजवासी दास कृत पृ० ६०१।

जन क्रान्ति के समय जन की शक्ति तानाशाही राजा को नगण्य लगती है। किन्तु जन की शक्ति अपार है जब वह क्रान्ति के लिये तैयार हो जाती है। कंस का विनाश होता है। जनक्रान्ति के बाद जिस नये राज्य की स्थापना होती है उसमें प्रजा को सुख देना ही केन्द्रीय चेतना होती है। यहाँ भी ऐसा ही होता है। ....

और कछू चित शोच न कीजे, नीति सहित परजहिं सुख दीजे ॥

—ब्रजविलास, पृ० ६०४।

जीवन के यथार्थ का सच्चा भोग न भोगने वाला राजा जन का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करता। कृष्ण तो बचपन से ही जन के बीच रहे हैं। खेले हैं। पढ़े हैं। फिर उनको जन-जीवन का सुखद एवं दुःखद अनुभव क्यों न हो। मथुरा में रहने वाले कृष्ण को ब्रज और गोकुल की याद बराबर आती है। उन का आकर्षण उस जन-जीवन की ओर बराबर है। यद्यपि मथुरा कंचन और मणियों से भरी है किन्तु जबहि सुरति आवत वा ब्रज की मन उमगत तन नाहीं। फिर राजा मनसा जन में है, शरीर से राजधानी में है। फिर क्यों न जन का सच्चा कल्याण करेगा? सहपाठी सुदामा जब मथुरा पहुँचते हैं तो उनका मित्र जनवादी राजा उनको गले से लगा लेता है और फिर समूलतः कष्ट को दूर करके ही छोड़ता है। प्रजा के कष्ट का निवारण राजा का कर्तव्य है। यह आदर्श नहीं, सच्चे राजा का यही यथार्थ है। कोई भेद-भाव न रखकर जन के लिये राजा ही समर्पित है—फिर क्यों न दुरबल विप्र कुचील सुदामा, ताको कंठ लगायौ—ऐसा हो। सूरसागर पद ८१५८।

सामन्ती सस्कारों में बँधे जन-शोषक राजा के प्रति न स्नेह है और न भय है। उनके लिये वे नितात त्याज्य हैं। जन-क्रान्ति भय की सीमा से बाहर अपना अस्तित्व रखती है। तानाशाही और जन शोषण पर आधारित प्रभु सत्ता के आगे क्रान्तिकारी नहीं झुकता। जन-क्रान्ति की पूर्णता के लिये यह अनिवार्य आवश्यकता है जो विचार की प्रथम अवस्था है। उसे तो अपने जनवादी शक्ति में ही सारी शक्ति दिखाई देती है। बस जन की सगठित शक्ति के मानस रूप में ही उसकी अभीष्ठता है।

भक्त कौ कहा सीकरी काम ?
आवत जात पन्हैया टूटी विसरि गयो हरि नाम ॥
जाकौ मुख देखत दुख उपजे ताको करनी पड़ी प्रणाम।
कुंभन दास लाल गिरिधर—बिनु यह सब झूठौ धाम ॥

कितना साहस और कितना खरा विरोध है। राजा के भरे दरबार में गाकर उसकी तीखी शिकायत एक प्राण अर्पित करने वाला क्रान्तिकारी ही कर सकता है। ऐसा ही साहस मीरा मे है। एकबार जन की सेवा का ब्रत ले लेने पर उन्हे भी किसी का भय नहीं है। राजा तो सामाजिक मूल्यों का नियन्त्रण, परिमार्जन करता है किसी के व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों पर आघात वह नहीं कर सकता। राजा मूल्यों को मूल्यो की आवश्यकता तक पहुँचाने वाला वाहक मात्र है। राजा राजा होंगे किन्तु मीरा जन-सेवा के भीतर स्वतन्त्र हैं।

* * * *

राणा ने समझाओ जाओ, मैं तो बात न मानी। —मीरा वृहद् पद सग्रह ९।

वह तो निर्विकार है। जन-जीवन से दूर हटे राज्य-सुख की अभिलाषा उन्हें नहीं है।

राजपाट भोगो तुम ही, हमसे न तासूँ काम। वही पद, १६।

वह तो स्पष्ट कह देगी कि तुम्हारे राज सत्ता से जुड़े लोग कूड़ा हैं मैं उसमें नहीं रह सकती।

नाहिन भावे थारो देसड़लो रग रूड़ो।
थारे देसा में राणा साध नहीं छे, लोग बसे सब कूड़ो। वही पद १७।

राणा जी अब न रहौगी तोरी हटकी।
साध संग मोहि प्यारा लागे, लाज गई घूँघट की। मिश्रित भाषा, पद, १।

जनवादी व्यक्ति संघर्ष में हारता या टूटता नहीं। वह आग से निकले कंचन की भाँति स्वच्छ होता है राणा जी थे जहर दियो म्हे जाणी।

जैसे कंचन दहत अगिन मे, निकसत बाहर बाणी। वही, पद २०१।

बड़ी मस्ती से इस जन जीवन के कष्ट से पार होना होगा। सामन्ती संस्कारों में घिरे जन को सच्चे केवट की आवश्यकता होती है। जन-नेता कृष्ण ही केवट हैं, संघर्ष प्रसन्न होकर ही होता है।

कछु लेना न देना मगन रहना।

गहरी नदिया नाव पुरानी, खेवटिये सूँ मिलते रहना। —वही पद—१३८४।

यथार्थ जीवन की इस विभीषिका को मीरा ने पहचाना था। क्रान्तिकारी सिंह की भाँति भय की सीमा में नहीं रह सकता। उसके पास जन-शक्ति होती है। भयभीत तो शासक होता है जो अपनी रक्षा के लिये बाहरी शक्ति का आवरण रखता है और फिर भी अपने को असुरक्षित समझता है। जन-नेता तो किसी का भय नही करता, बस उसे जन की चिन्ता होती है। यही अपेक्षित मूल्य है।

सिंहनि-सिंह बीच बैठ्यो सुत, कैसे स्यारहिं डरिहै। —व्यास, पद—१०८।

जन की समस्याको तथा शासक के प्रति विद्रोह की भावना को लेकर गोपियों और कृष्ण के बीच जन को क्या भय है? भय को तिलाजलि देकर वह इस क्षेत्र में आया ही है। वह तो झूठे भय और सच्चे भय की पहचान रखता है। ..

गरजत हौं, नाहिंन नेको डरु। —व्यास, पद, २३८।

वह मर जाना पसन्द करता है किन्तु घूटने नहीं टेक सकता। कभी पराधीनता उसे स्वीकार्य नहीं है। स्वायत्तता ही उसके लिये मूल्य है।

मेरी पराधीनता मेटौं हरि किन।

* * * *

सिंघन के बालक भूखे हूँ तजत प्रान, नहिं चरत हरयूयो तुन॥

वही, पद २७४।

सब कुछ विवेक सम्मत ही होगा। समाज और जीवन को विवेक के स्तर पर स्वीकार करना ही भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र था। ......

व्यास विवेकी भक्त सौं, दृढ़ कर कीजे प्रीति।

अविवेकी कौ संग तजि, यही भक्ति की रीति॥ वही, पद—१०६।

ठोस चिन्तन के धरातल पर ही जन क्रान्ति सफल होती है गुमराह होने से जन को और खतरा झेलना पड़ता है। इन आवश्यकताओं का बोध इन भक्तों को था।

सूर जैसे कृष्ण-भक्त ने उस काल की राजनीतिक विशृंखलता को देखा और उसके एजेण्टों के द्वारा की जानेवाली जन की दुर्दशा का भी बोध उन्हे था। तभी वे उसे इन्कार करके कृष्ण के चरणों में ही जन का सच्चा कल्याण देखते हैं और उन्हें उसका दृढ़ भरोसा है। निम्न पद में यथार्थ का चित्रण और शासक का कुचक्र व्यंजित हुआ है।

जनम साहिबी करत गयौ।
काया-नगर बड़ी गुजाइस, नाहिन कछु बढ़यौ।
हरि कौ नाम, दाम खोटे लौ, झकि-झकि डारि दयौ।
विषया—गाँव अमल को रार्टौ। हँसि-हँसि कै उमयौ।
नैन अमीन, अधर्मिनि कैं बस, जहाँ कौ तहाँ छयौ।
दगावाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लुटि लयौ।
पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म-सुधन लुटयौ। —सूर सागर, पद ६४।

तभी उन्हें पूरा विश्वास है कि अपने अपेक्षित मूल्यों के संवाहक कृष्ण पर और कोई जन का सच्चा मूल्य स्थापक नहीं है।

हमारे निर्धन के धन राम। वही, पद ९२।

इन कृष्ण-भक्तों ने यथार्थ राजनीतिक स्थितियों के बीच राजनीतिक निदर्शन के साथ युगीन अपेक्षा के क्रम में ऐसे जन-शक्ति की कल्पना की जो कृष्ण में अपना अधिष्ठान देखती है, जिसकी अवस्थिति कृष्ण मन में नहीं जन के मन में थी। मूल्यों को परिसर्पित करता हुआ मूल्यों में सिमटता हुआ जन-जीवन कृष्ण को केन्द्र बनाकर प्रतिपादित हुआ। इस राजनीतिक शक्ति में गति प्रवणता थी, सर्वसुलभता थी और सामान्यीकृत सामाजिकता थी जिसमें अभेद था। गति मे गति देखना ही इन भक्तों की अभीष्ट था। यथार्थ और अपेक्षा के क्रम मे सच्चे मूल्यों की व्यंजना इन कृष्ण कवियों ने की थी।

मानव जीवन की सुरक्षा और कर्म परायणता के लिये अर्थ आवश्यक है। अर्थ के अन्तर्गत समस्त उपयोगी और उपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता होती

है अर्थ के उत्पादन से और उत्पादन से मनुष्य का सीधा सम्बन्ध होता है उसके आधार पर ही व्यावहारिक जीवन का कार्य सम्पादित होता है। मनुष्य का व्यावहारिक जीवन ही काम कर्म और भोग की व्यवस्था है। सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक मूल्य संस्थानों का विकास मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के कारण हुआ। अर्थ भोग साधन है और उत्पादन आदि के सन्दर्भ में साध्य भी होता है, क्योंकि मनुष्य कर्म में लिप्त होते समय अर्थ को अभीष्ट मानता है। अतः अर्थ भी धर्म और काम की तरह एक पुरुषार्थ स्वीकारा गया। मनुष्य की सुख-संवेदना काम-सुख और जिह्वा सुख के रूप में दिखाई देती है। इनके साथ मानव जीवन की अपेक्षाएं जुड़ी होती हैं। मनुष्य की सुख-संवेदना काम-जीवन का एक अंग है। मनुष्य इच्छा से आक्रान्त होकर अर्थ के प्रति मात्र वयक्तिक नहीं रहता अपितु वह सामाजिक आग्रह रखता है। अर्थ और धर्म में कर्म की प्रधानता होती है। कर्म का अर्थ ही मूल्य है जो उपयोगिता की अभीष्टता पर निर्भर करता है। भोग जब व्यक्तिनिष्ट होता है तब तक उसमें नैतिकता का प्रवेश नहीं रहता, लेकिन कर्म जब सामाजिक भोग का विषय बनता है, तब वह निःस्वार्थ और नैतिक हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का आर्थिक अधिकार स्वार्थी होने में नहीं, अपितु समाज की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में है। समाज की समृद्धि के साथ उपभोग की अनिवार्यता मानी गयी है। इस प्रकार मनुष्य उत्पादन सन्दर्भ में साधन ही नहीं रहा अपितु साध्य भी हुआ। जहाँ धार्मिक आग्रह से सोचा जाता है कि मनुष्य भोजन के लिये आत्यन्तिक परिश्रम क्यों करता है, वहीं अर्थशास्त्री विचारधारा प्रश्न करती है कि वे लोग कैसे होते हैं जिन्हें भोजन के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। वस्तुतः आर्थिक विकास के साथ राष्ट्रीय समृद्धि-सुख-संवेदना उपयोगितावादी दृष्टि, जीवन की व्यावहारिकता, लौकिकता आदि का विकास होता है।

लोक जीवन में आर्थिक आग्रह के साथ जीवन-प्रक्रिया में बदलाव आता रहता है। फलस्वरुप जीवन-दर्शन ही बदल जाता है। आर्थिक लगाव के कारण ही कृषि तथा अन्य प्रकार के उत्पादन का आविष्कार हुआ। वैदिक काल में सोमरस आदि भोज्य पदार्थों की खोज के साथ कृषि का भी विकास हुआ। ऋग्वेद की ऋचाओं में इनके प्रति संकेत मिलता है। उपनिषदों में भोग हीन दर्शन के बावजूद भी उत्पादन और उपभोग की परम्परा चलती रही। द्रव्य पदार्थ और सांसारिक सुख को ही लोकायत परम्परा में सत् माना गया।

आर्थिक समृद्धि के साथ जन-जीवन की [illegible] और निवृत्यात्मकता निर्धारित होती है। जीवन-दर्शन बदलता है। फलतः सृजनात्मक क्षेत्र में भी परिवर्तन आता है। साहित्य-सर्जना और लोक चेतना में ये तत्व उपादान बनते चलते हैं। आर्थिक समृद्धि और आग्रह का साहित्य-सर्जना पर प्रभाव पड़ता चलता है।

भक्ति काल में महन्तों और मठाधीशों का जीवन राजसी था। विदेशी आक्रमण के कारण आर्थिक स्थिति र जनीतिक स्थिति के साथ विचलित होने लगी इसका अभीतक कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका। इसके आगे (१४०० ई०—१६०० ई०) शूद्रों की स्थिति में बदलाव आया। आक्रमण हुए अर्थ को ही केन्द्र बनाकर, अतः आर्थिक सकट अवश्यम्भावी था। दूसरे सरकारी आय के सभी स्रोत मुसलमानों के हाथ में थे। उस समय यह आवश्यक था कि जनमत और शासक वर्ग के सामने आर्थिक उदासीनता को मूल्य के स्तर पर लिया जाय। इस अपेक्षा के साथ आर्थिक आग्रह को महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु गरीबी को महान् दुःख के रुप मे स्वीकार किया गया। इस काल के कवियों के साहित्य का रुप गठन उस युग की आर्थिक अपेक्षा के साथ भी जुड़ा रहा।

भक्ति कालीन कवियों के काव्य से यह स्पष्ट होता है कि उस समय विभिन्न जातियों का कार्य अलग-अलग था और वे विभेद से भी आपन्न थे। अर्थ के आधार पर ही उनकी आभिजात्यता और निम्नता मानी जाती है। नरोत्तम दास ने स्पष्ट कहा। ‥ ·

क्षत्रिन के प्रण युद्ध ज्यों बादल साजि चढ़े गज बाजन ही।
वैश्य को बानिज और कृषिपन, शूद्र के सेवन नीति यही।
विप्रन के प्रण है जू यही सुख सन्पत्ति सो कुछ काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन है, कन माँगत ब्राह्मणै लाज नहीं।

—कविता कौमुदी, पृ० १४७।

यह अर्थ की उदासीनता सुदामा को गरीबी की सीमा रेखा के नीचे रहने को मजबूर करती है किन्तु युग की अपेक्षा बनकर उनकी पत्नी इस गरीबी को दूर करने के लिये बाध्य करेगी। अपने लक्ष्य तक प्रयास करके उस दरिद्रता के शाप को मिटाना ही होगा।

इस काल में रचना के अन्दर व्यापारियों व उनकी नीतियों का चित्रण बराबर मिलता है। इतना अवश्य अपेक्षित मूल्य उनका हमारे सामने प्रस्तुत होता है कि इस काल में अर्थ संचय हेतु सामूहिक कर्म को आवश्यकता और व्यवहार के स्तर पर स्वीकार किया गया। कृषिप्रदेश में जहाँ आर्थिक शोषण है जन-शक्ति को निर्बल बना देता है। वहाँ आवश्यक है कि पुरुष-स्त्री दोनों सभी सहयोग के साथ परिश्रम और उपार्जन करें। कृष्ण-भक्तों का अभीष्ट जीवन इसी सहयोग और कर्म की भूमिका पर आधारित है। यशोदा एक सम्पन्न की स्त्री हैं लेकिन घर का सारा कार्य स्वयं करती है:

मथति दधि जसुमति मथानी धुनि रही घर छहरि।

सूरसागर द० स्क० पद ८७।

यही नहीं अत्यन्त अलौकिक सौन्दर्य से युक्त गोपियाँ भी आर्थिक उपार्जन में लगी हैं उसके लिये उन्हें लाज शर्म के बन्धन को भी तोड़ना होता है। वे गाँव-गाँव दही बेचने जाती हैं। ...

नव-सत साजि सिंगार जुवति सब, दधि मटुकी लिये आवत।

सूरसागर, द० स्क० पद १५००।

गोरस राधिका लै निकरी। – परमानन्द सागर, पद. १८५।

श्रीकृष्ण स्वयं गाय चराने जाते हैं। यहाँ केवल धर्म की चेतना में बदल जाने वाली जन-क्रान्ति नहीं है। बड़े ठोस रूप में आर्थिक राजनीतिक पहलू को स्वीकार करके चलने वाली क्रान्ति है। उस समय का यथार्थ तो यह है कि सामान्य जन के घर में फूटा तवा और कठौता है। निषिद्ध अन्न भी पेट भर नहीं मिलता है। उसे दूर करना ही तो लक्ष्य है।

कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत व्यतीत भयो सिसियातहि हौं हठती प तुम्हें न हठौती।
या घरते न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती॥

—हिन्दी का० स० पृ० १२३।

काल्पनिक राजा कृष्ण अपने कर्तव्य में खरे उतरते हैं। भक्त कवियों की अपेक्षा पूरी हो जाती है। उस समय नगरों की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी किन्तु गाँव की आर्थिक स्थिति के प्रतीक सुदामा हैं। इस नगरोन्मुखी आर्थिक

वैभव को ग्रामोन्मुखी करना ही आन्दोलन का केन्द्रबिन्दु था। अपनी कल्पना को नरोत्तम दास ने चरितार्थ होते देखा। अच्छे राजा के नियन्त्रण में गाँव और नगर का भेद नहीं रह सकता। इतना अवश्य है कि इन भक्तों ने आर्थिक होड़ का विरोध किया किन्तु व्यावहारिक जीवन की प्रक्रिया मे आर्थिक मूल्य को स्वीकार किया।

आर्थिक सन्दर्भ मे असमानता का सभी भक्तों ने विरोध किया। मनुष्य का मूल्यांकन अर्थ के आधार पर नहीं होना चाहिए। अर्थ का वैषम्य तो सामाजिक शोषण और वर्गीय वैषम्य के कारण है। कभी-कभी इस मानवीय समानता को लेकर ब्रज की युवतियाँ और ग्वाल कृष्ण को भी ललकार देते हैं और साफ कह देते हैं। . .

हम तुम जाति-पाँति के एके, कहा भयौ अधिक व्दै गैयाँ ? सूरसागर पद, ७३५।
दस गैयनि करि का बड़ौ, अहिर जाति सब एक।
कह गयनि की चली, कहां अब चलो जाति की। वही, पद १४९।

सभी की एक जाति है फिर व्यक्ति का मूल्यांकन व्यक्ति के रुप मे हो या गायो के आधार पर ? जब जन-नेता भी अपने सामन्ती संस्कारों मे घिरने लगेगा उस समय जन सचेष्ट कर देगा। यह तो जीवन की रंग भूमि है। क्रान्तिकारियों की कोई जाति नहीं होती और उसमे कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। कृष्ण सामन्त के लड़के हैं। कभी-कभी जब उनमें सामन्ती संस्कार आएगा उस समय जन उन्हें भी ललकार देगा और क्षमा माँगने तथा शपथ करने के लिये विवश कर देगा। श्रीदामा ने यही कहा कि कुछ अधिक गायों के कारण तुम बड़े नहीं। हर आदमी अपनी स्वायत्तता में जी रहा है। कितना स्वावलम्बी जीवन है ? इन भक्तों का जन परोपजीवी जीवन नहीं जी सकता।

खेलत में को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जाते अधिक तुम्हारैं गैयाँ।
रुहठि करै तासौ को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नन्द दुहैया।

—सूरसागर, पद ८६३।

कितना सहज और कितना सरल है। उनमें ज्यादा आत्मविश्वास है। फिर अर्थ का वैभव उन्हें कान्ति से रोक नहीं सकता। उनके पास जन बल है। उससे वे अपने मौलिक अधिकार के रूप में धन-बल को भी प्राप्त कर लेंगे।

ये कवि आर्थिक विलासिता से घृणा करते थे। विलासी होकर विलासिता का अन्त नहीं किया जा सकता। त्याग करके ही सर्वजनीन आर्थिक विनिमय हो सकता है। वह भी कहु देता। ......

राजपाट भोगो तुम ही, हमको न लागूँ काम।। (मीरा, ९) ऐसा क्यों न होता उस समय धन को ही अपार महत्ता दी गयी थी जिसमें समस्त मानव-मूल्य खण्डित हो रहा था। ......

धर्मदुरायौ कलिदई दिखाइ।
कीनौ प्रगट प्रताप आपनौ, सब विपरीति चलाई।।
धन भयौ मीत, धर्म भयौ बैरी, पतितन सौं हितलाई।

* * * *

देखत संत भयानक लागत, भावत ससुर जमाई।। —व्यास, १२९।

कितनी स्वार्थपरता उस समय आ गयी थी? उन भक्तों की भी निन्दा हुई जो राजाओं के दरबार में चाटुकारिता करते थे। ...

भक्त डोलैं भूपनि द्वार।
उझकत झुकत पौरियन डरपत, गाइ बजाइ सुनावत सार।।

* * * *

इस प्रकार की आर्थिक होड़ में जीवन टूटता ही जा रहा था। सामन्ती संस्कारों में फँसे लोग भी तो एक गुरु के शिष्य होते थे लेकिन गुरु की परवाह वे अपने भोग में नहीं करते थे। गुरु को यह धोखा हो सकता है कि अमुक मेरा शिष्य है किन्तु उस विचार की सीमा में भ्रम पालने की आवश्यकता न थी। समाज में आर्थिक विषमता थी। किसी का कुत्ता दूध पीता है और कोई स्वयं भूखों मर रहा है कितनी विडम्बना है?

गुरुहिं न मानें चेली-चेला।
गुरु रोटी पानीसौं घूँटत, सिष्य के दूध पियै कुकरेला।।
सिष्यनि के सोने के बासन, गुरु कौं कूँडी-कूँडेला।
चोर छिनरियनि कौं बहु आदर, गुरु कौ ठेलीठेला।।

सिष्य तौ मासीचूस सुनियत गुरु पुनि खाल उचेला।
वह कायर यह कृपन हठीलौ, ईंट मारि दिखरावसु मेला।।
श्रीकृष्ण-भक्ति विनु बिबि असमजस, दुख सागर में झेली-झेला।
व्यास आस जे करत सिष्य की, तिन तें भले भँडेला।। —व्यास, पद, १२७।

वस्तुतः राजा भी तो किसी गुरु का शिष्य होता है किन्तु गुरु उसके अत्याचारों को अपने आँखों के सामने देखता और कायर की भाँति सह लेता है। इन भक्तों ने क्रान्ति और विरोध को बड़े साहस के साथ स्वीकार कर लिया था।

कृष्ण भक्तों ने धर्म के सात्विक मूल्यों के भीतर एषणीय स्तर पर व्यावहारिक मूल्यों का समाहार किया था जहाँ भोग का होड़ न था वरन् मानवीय मौलिक आवश्यकता के स्तर पर इकार ही था। सात्विक और व्यवहारिक सहज मूल्यों के रुप में जीवन की गतिशील सत्ता को इन भक्तों ने स्वीकार करते हुए जन-जीवन को कर्म और उत्पादन की मानवीय परिधि में रखा।

ख—धार्मिक, दार्शनिक मूल्य-प्रक्रिया और कृष्ण-काव्य।

मनुष्य जब से पृथ्वीपर आया तभी से सृष्टि की रचना और प्राकृतिक क्रियाओं के रहस्य के प्रति वह जिज्ञासु हुआ। वह अपने को, अपने साथ दूसरों को, समस्त सृष्टि को और सृष्टि-सर्जना की शक्ति को अपने विश्लेषण में लाता रहा है। इस रचना के प्रति आकर्षित होता हुआ वह रचनाशील हुआ। धीरे-धीरे उसे अपनी बुद्धि और विवेक के प्रति विश्वास भी होता गया। इसी विवेक शक्ति के विकास के साथ वह रचनात्मक भी होता गया। अपने परिवेश के प्रति विचारों पर भी विचार करना शुरु किया। इस विश्लेषण क्रम में ही वह दार्शनिक होता गया इस सृष्टि में वह विभिन्न आयामों में अपना मूल्य निर्धारित करता रहा। इस रहस्य की खोज में वह ईश्वर की कल्पना कर सका। उस सर्व शक्तिमान के प्रति अपनी पूज्यता को अर्पित करता रहा और उसके ही परिप्रेक्ष में मनुष्य के सामाजिक सांस्कृतिक आदि मूल्यों को स्थापित भी करता रहा। इसी विकास-क्रम में मनुष्य धार्मिक और दार्शनिक होता गया। धर्म के द्वारा वह जीवन और जीवन के साथ जुड़ी चरम शक्ति के प्रति पूज्यता का भाव रख सका और दर्शन के कारण नये जीवन-मूल्यों को अन्वेषित करता रहा। इसी दर्शन के विकास-क्रम में मनुष्य ने विवेक को सहज-धर्म के रुप में स्वीकार किया और उसी के साथ मूल्यों की ओर विकास करता हुआ ऐतिहासिक हुआ।

इस पूरी प्रविधि में उसने आत्मा और परमात्मा के मूल्य को निर्धारित किया। आत्मा के साथ ही उसने आत्मतत्त्व को अपने में संजोया और इहलोक में जीवन को सामाजिक, सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। भौतिक जगत् से परे शाश्वत सत्य को देखने और लक्ष्य मानने के साथ आदिम मानव ने जीवन को लौकिक सन्दर्भ में स्वीकार किया। इस रूप में वह पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर उन्मुख रहा। जीवन के साथ उसने युग की पहचान, उसकी अपेक्षाओं को निर्धारित किया और जीवन-दृष्टि को समय सापेक्ष विकसित किया। इस पूरी प्रविधि में वह सृजनात्मक मानववाद की प्रतिष्ठा करता रहा। वह अपनी पारलौकिकता और लौकिकता में सृजनात्मक रहा। इसी कारण दार्शनिक भी रहा क्योंकि मानव-अनुभूति का विश्लेषण ही दर्शन है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ वह दार्शनिक मतवादों में बदलता रहा। इसका परिणाम रहा कि भारतीय जन-जीवन बुद्धिवादी, भोगवादी और मुक्तिवादी रहा है।

मनुष्य ने बौद्धिक होने के कारण ही सुखी जीवन के लिये त्याग और सादगी को महत्त्व दिया। उसने सोचा कि सुख शारीरिक तृप्ति के साथ पूर्ण नहीं अपितु उसके लिये आत्मिक शान्ति और धैर्य भी आवश्यक है। इसी कारण एक अवस्था में उसे राजनीतिक और सार्वजनीन जीवन से अलग-थलग होना भी नीति के अनुकूल जान पड़ा। उसके सामने, देवताओं, मृत्यु और परलोक का भ्रान्ति मूलक भय था, किन्तु दर्शन ने उसे जीवन और जगत् के वास्तविक स्वभाव से परिचित कराया। मनुष्य ने संवेदनात्मक और बुद्ध्यात्मक दोनों प्रकार के ज्ञान के माध्यम से संसार और जीव की गति को समझने का प्रयास किया। कभी उसने प्रमाण को आधार बनाया तो कभी स्वतः प्रमाण बना। इसके साथ वह यथार्थ और अयथार्थ दोनों को अपने ज्ञान में स्वीकार करता गया। सत्ता की पूर्णता की खोज में ही सर्जनशील व्यक्तित्व लगा रहा। वह सत् की खोज में जीवन, आत्मा और परम तत्व तक की यात्रा करता रहा। सत्ता के प्रत्यय में पूर्णता की खोज भारतीय परमात्म तत्व की खोज के साथ पूरी होती दिखाई दी, किन्तु अलौकिक होने के कारण रहस्यवादी विचार-धारा पनपी और आदर्श तथा यथार्थ का द्वन्द्व प्रतिष्ठित हुआ। "यदि पूर्णता एक आदर्श प्रत्यय है तो उसके प्रतियोगी अपूर्ण पदार्थ को भी स्वीकार करना होगा। वैसे ही सत्ता को आदर्श के अनुरूप भाव मानने पर आदर्श के अनुरूप भाव को भी स्वीकार करना होगा। फलतः यहाँ आदर्श और यथार्थ, सत्ता और भाव का द्वैत

अनिवार्यतया उपस्थित हो जाता है (गोविन्द चन्द्र पाण्डेय मूल्य मीमांसा पृ० ४६-४७)। ईश्वर यदि पूर्ण है तो उसके साथ मनुष्य का भी अस्तित्व माना जाना अपेक्षित रहा। इस कल्पना व्यापार ने जिस आदर्श मूल्य को प्रतिपादित किया उसके द्वारा मानव-कर्म को निर्देश मिलता रहा है। आध्यात्मिक कल्पना या दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से जिन मूल्यों का अन्वेषण हुआ वे मानव के विवेक सम्मत लक्ष्य थे। पूरी प्रविधि में मनुष्य बौद्धिक व्यापार से ज्यादा विवेक को महत्व देता है। इसी के द्वारा मनुष्य तत्व की खोज में मूल्य को अनुस्यूत कर सका और उनके बोध में अनुभूति और बुद्धि का प्रयोग करता रहा है। इसी कारण वह सृजनशील भी रहा है। इस प्रकार मनुष्य ने जीवन में मूल्य को स्थापित किया और अपने को ज्ञान और कर्म की ओर उन्मुख किया। अतः मूल्यों की समग्र उपलब्धि का इतिहास मानवीय अनुभूति का इतिहास कहा जा सकता है। इन मूल्यों के आग्रह के कारण ही धर्म में काम का विरोध हुआ किन्तु उसे अनर्थ नहीं स्वीकारा गया। धर्म में साधन और साध्य दोनों को महत्व दिया गया, जिस कारण धर्म अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ माने गये। मनुष्य की बुद्धि ने एक ओर मनुष्य को धर्म और अध्यात्म के माध्यम से रहस्यवाद की ओर खींचा तो दूसरी ओर उसने जीवन की सुविधा के लिये प्रकृत तत्वों से साधन भी इकट्ठा किया। मानवीय रुचि इस बात में हमेशा रही है कि वह चरम मूल्य को प्राप्त कर सके जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों का सम्मिश्रण हो।

मनुष्य ने परमार्थ निष्ठा से प्रेरित होकर एक ऐसा विलक्षण आयाम ढूढ़ निकाला जिसे धर्म अथवा आध्यात्मिक जीवन—कहा गया। मनुष्य की यह सबसे उत्कर्ष कल्पना थी जो जीवन में साध्य मानी गयी। धर्म में जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी गयी वह नित्य और सत्य माना गया। धर्म के साथ ही शिक्षा का विकास हुआ, जो सात्विक के साथ व्यवहारिक भी होता गया। दर्शन का स्वरुप धर्म से अलग है किन्तु भारतीय धर्म ने दर्शन को भी आत्मसात् किया और आध्यात्म के साथ दार्शनिक विश्लेषण को भी प्रस्तुत किया। इनके द्वारा निर्देशित मूल्य भोग ही नही रहे अपितु मनुष्य की चेतना के नियामक बने। 'सभी भारतीय दर्शनों मे आत्यन्तिक और एकान्तिक दुख निवृत्ति अथवा तत्पूर्वक सुख-प्राप्ति,, परम पुरुषार्थ और इसका मुख्य साधन विवेक पूर्वक आत्मज्ञान माना गया है। फलतः मूल्यों के तीन स्तर स्पष्ट हो जाते है—भोग ज्ञान एव मोक्ष।

चूंकि कर्म के बिना ज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं माना जाता इन तीन को चार में विभक्त किया जा सकता है : भोग, कर्म, ज्ञान एवं मोक्ष। मूल्य का स्वरूप यहाँ चार समवेत लक्षणों में व्यक्त होता है—साध्यता, अन्तर्भाव, आत्यन्तिकता और ऐकान्तिकता। अनर्थ के तीन लक्षण सुविदित हैं—दुःख, अनित्य और अनात्म" (गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृ० ८५)।

भारत में धर्म नैतिक जीवन का नियामक है। वह जीवन की क्रियाओं का नैतिक तौर पर निर्धारण करता है। जीवन के प्रत्येक आयाम पर धर्म का आग्रह उसे एक प्रकार का विशिष्ट मूल्य प्रदान करता रहा है, धर्म के कारण ही सामाजिक न्याय की व्यवस्था हुई और नैतिक स्तर पर समता का आदर्श प्रतिपादित हुआ। धार्मिक न्याय की व्यवस्था आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार के व्यवहारों का नियामक बनी। इस रूप में धर्म एक आदर्श व्यवस्था होने पर भी व्यावहारिक जीवन के लिये वरदान सिद्ध हुआ। फलतः मानव-जीवन एक निश्चित दिशा में गतिशील रहा और उसकी चेतना को एक व्यवस्थित इतिहास मिलता गया। इस प्रक्रिया में मानवता के विकास का दायित्व धर्म पर है। धर्म ने निःस्वार्थ, सात्विक एवं आदर्शपरक नैतिकता को प्रतिष्ठित किया। मानव-जीवन को हित-परायण और शिवपरायण बनाने में धर्म का ही सहयोग रहा है।

धर्म के अन्तर्गत जिस ज्ञान-साधना का महत्त्व रहा है, वह व्यावहारिक नहीं अपितु मनुष्य के चरम उत्कर्ष की साधना रही है। इसीलिये मनुष्य की आध्यात्मिक साधना सबसे साहसिक और दूरगामी साधना रही है। धर्म की साधना अस्तित्व बोध के साथ प्रारम्भ होती है। धर्म में मनुष्य जिस अलौकिकता की कल्पना करता है वह उसकी चेतना की संवेदनाशीलता में ही रूप-ग्रहण करता है। मनुष्य देव शक्ति की कल्पना की द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में शक्ति संग्रहीत करता है और भयों का प्रतिकार करता है। इस प्रकार धर्म एक अनुभूति है जिसके द्वारा सभी विषयों की विशेषताओं का अतिक्रमण हो जाता है। मनुष्य की नैतिक एवं धार्मिक खोज उसके जीवन-विवेक की खोज है, इसके द्वारा वह जीवन को सही मार्ग देना चाहता है। इस रूप में नैतिक अथवा धार्मिक व्यापार जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने की पहल करते हैं। इसके साथ जीवन में साधुता की अपेक्षा भी रहती है। धर्म को आचार नीति से सम्बन्धित

बताया गया है। धर्म और आध्यात्म का निकट सम्बन्ध रहा है। इनकी अनुभूति एक रहस्यपूर्ण लक्ष्य या सत्ता पर आश्वस्थ होती है। "धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति, हमारे मत में मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थित सत्ता की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यो का मूल आधार समझी जाती है जिसे हम धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, वह, वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है" (देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० ३४०)। धार्मिक साधक निर्वैयक्तिक मूल्यों की खोज करता है, जिसे वह परम श्रेय समझता है। यही परम श्रेय मानव-जीवन की सर्जनात्मकता का उच्चतम स्वरुप है। दर्शन और धर्म दोनों का विषय जीवन मूल्य है। मनुष्य अपने मूल्यों की खोज में दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन मे पृथक् नहीं रहा है। धर्म और दर्शन में मात्र इतना ही अन्तर है कि एक उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि करना चाहता है और दूसरा सम्पूर्ण मूल्य-क्रम को समझना चाहता है।

दर्शन का कार्य विश्व को समग्रता मे पकड़ना है। वह विज्ञान से भी एकीकृत ज्ञान है। चिन्तन का चिन्तन होने के कारण दर्शन जिस तथ्य को सामने रखता है, उसमें तत्कालीन मूल्य का परिशोधित रुप दिखाई देता है। दर्शन अपनी विश्लेषण-प्रक्रिया में मनुष्य की सौन्दर्य, नैतिकता तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियों पर विचार करता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य आन्तरिक जीवन का निर्माण करता है। मनुष्य की चेतना को परिष्कृत करता है जिससे मनुष्य की सृजनशीलता को दिशा मिलती है। दर्शन के द्वारा ही मानवीय आत्मा और मानवीय संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन होता है। दर्शन के द्वारा ही मानव-संस्कृति को आत्म-चेतना प्राप्त हुई। दर्शन असगतियों तथा विरोध का शमन करता है। दर्शन की सहायता से मनुष्य अपने सर्वोच्च कल्पित लक्ष्य को परिभाषित करता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य समस्त सार्थक अनुभूतियों एव विज्ञानों की प्रामाणिकता के द्वारा विश्व का एक समग्र चित्र खीचने की कोशिश करता है।

भारतीय धर्म और दर्शन में आध्यात्म और रहस्यवाद का विशेष महत्व था। ऋग्वेद काल में कृषि की महत्ता थी। लौकिक जीवन को शक्तिशाली तथा समृद्ध करने के लिए देवताओं की कल्पना की गयी। धर्म को कर्मकाण्ड और यज्ञों के साथ बाँधा गया। यज्ञ में पत्नी का महत्व स्थापित किया गया। इस काल

में जिन देवताओं की उपासना की गई उनका जीवन की महत्वपूर्ण उपकरणों से घना सम्बन्ध था। इस काल के दो सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण समझे जाते हैं। इन्द्र बल तथा शक्ति के अधिष्ठाता हैं और वरुण मुख्यतः नैतिक व्यवस्था के संरक्षक हैं। इन्द्र कृषि के लिये उपयोगी थे, क्योंकि वे बादलों तथा वर्षा के स्वामी थे। इसके साथ लौकिक मूल्यों की स्थापना हुई और इस काल का मनुष्य सर्जनात्मकता में प्रवृत्त हुआ। उसका इन्द्र धीरोदात्त, साहसी और पराक्रम का चरम रुप था। उस समाज की कष्ट साध्य परिस्थिति में कृषि की उन्नति करने में वैदिक मनुष्य अपने देवताओं से शक्ति ग्रहण करता रहा। जीवन को मूल्य के रुप में स्वीकार किया गया ज्ञान और कर्म की साधना के साथ जोड़ा गया। जीने की अभीप्सा प्रचुर थी। इस जीवन दर्शन का प्रभाव उस काल की रचना पर भी पड़ा। उस काल में मूल्य आनन्दमयी सृजनात्मकता के रुप में था। इसीसे उसे दिव्य प्रेरणा मिलती थी। सोमरस के पान में उसे ऐसा ही आनन्द मिलता था। वह संसार और भौतिक जगत में ही देखने का अभ्यासी था। छन्दों की रचना को भी वरेण्य माना गया। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति की भौतिक शक्तियों पर अधिकार बढ़ता गया वैसे-वैसे उसके उपास्य देवताओं की प्रकृति बदली। अब वह अपने देवताओं में अधिक सूक्ष्म, आध्यात्मिक विशेषताओं का आरोप करने लगा। इसका कारण कि मनुष्य को प्रकृति पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि करना ज्यादा कठिन जान पड़ता था। मनुष्य का स्वभाव है कि जिस काम को या चीज को कठिन समझता है, उसका सम्बन्ध उपास्य देवता से जोड़ देता है। उपनिषद्‌ काल में सूक्ष्म चिन्तन बढ़ा और ब्रह्म की कल्पना हुई। ज्ञान का सात्विक मूल्य प्रस्तुत हुआ। ज्ञान के द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को चरम मूल्य घोषित किया गया। अविद्या परिहार के द्वारा मुक्ति की बात उठायी गयी। ब्रह्म एवं जीव के भेद को नित्य सिद्ध माना गया। शिक्षाक्षेत्र का विकास हुआ। चेतना बदली और सत्य की अभीप्सा के लिये चिन्तन का क्षेत्र खुला। जीवन को सत् माना जाय या उस अलौकिक सत् को जिसका सूत्रपात उपनिषदों में हुआ। चार्वाक् आदि ने इसके समानान्तर जीवन-भोग को सत् माना और भोग को इस जीवन में और यही मूल्य माना। इस दर्शन का भी प्रभाव परम्परित रूप में बहुत दूरतक साहित्य-रचना में चलता है।

बौद्ध धर्म में पहुँचकर जीवन-दृष्टि और आध्यात्मिक धारणा बदली। जीवन को

दुःख तथा भोग और ऐन्द्रिय सुख को अनर्थ माना गया। इन दुःखों से छुटकारा पाना ही मूल लक्ष्य हो गया जिसे निर्वाण की संज्ञा दी गयी। निर्वाण और कैवल्य ही चरम मूल्य हुए। संसार को दुःख का कारण माना गया। प्रवृत्त्यात्मकता का विरोध हुआ। निर्वाण के लिये बोधि को आवश्यक माना गया। वैराग्य की भावना यहीं से जड़ पकड़ने लगी थी। बाद में इस धर्म में भी बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया। इस दुःखवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिक चिन्ता का प्रभाव साहित्य सर्जना पर पड़ा। संघ में स्त्रियों को प्रवेश मिलने के साथ भिक्षुणियों की संख्या भी बढ़ी। बौद्धों ने शून्यवाद और विज्ञानवाद की दार्शनिक मान्यता स्वीकार की। ये उसके तत्व चिन्तन के आधार थे। इसका प्रभाव अत्यन्त दुःखवादी होने के कारण लोक से दूर रहा। अतः इस मत को लोकमत की ओर खींचने का प्रयास बराबर चलता रहा।

वैदिक, वेदान्ती, चार्वाकी तथा लोकायत दर्शन तथा भारतीय योग-दर्शन और बौद्ध जैन-दर्शन समय के साथ परिवर्तित होते हुए कुछ छोड़ते कुछ जोड़ते चले आ रहे थे और उन दर्शनों का प्रभाव तत्कालीन रचनाओं पर पड़ रहा था। बौद्ध-धर्म के दुःखवादी विचार धारा पर दबाव बढ़ता जा रहा था। उसे लोकमत और लोक-रुचि में बाँधने का प्रयास हीनयान और महायान के विभाजन-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। वज्रयानी सिद्धों तक पहुँचकर बौद्ध-धर्म में भोगवादी दृष्टि को स्वीकार कर लिया गया। ऐन्द्रिय भोग परक सुख को महासुख माना गया और उसे ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ माना गया। इस समय की समृद्धि ने भोग को प्रेरित किया। उन्होंने अपने दर्शन में स्त्री-भोग को महत्त्व दिया। योगिनी और डाकिनी द्वारा सहज समाधि प्राप्त होती थी। उनका इन्द्रिय सुख के प्रति आग्रह बढ़ा। पाँच इन्द्रियों के साथ मन को छठी इन्द्रिय माना गया। आत्मा और परमतत्त्व की अद्वैतता स्वीकार की गयी। सिद्धों ने देह का महत्त्व केवल शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से नहीं किया था। इसके पीछे एक गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य था। इसीलिये ही वज्र तन्त्र मे महासुख को देह में स्थित बताया गया किन्तु देहज नहीं। आलिंगनादि कर्मों को स्वीकार किया गया किन्तु क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मन से स्वीकार करने की सलाह नहीं थी। आसक्ति भाव से ये भोग सिद्धि मे बाधक होते हैं। इसप्रकार वे प्रवृत्तिमूलक सहज को स्वीकार करते हैं। मानवीयता का निषेध न करके उसे अपनी सीमा में स्वीकार करते है। इस भोगवादी दृष्टि के साथ आध्यात्मिकता का आग्रह था। स्त्री और

शूद्रों को सर्वोच्च स्थान देने के साथ जन जीवन को मूल्य के स्तर तक पहुँचाया गया। इसके साथ लोक-जीवन के तन्त्र-मन्त्र तथा जादू टोने का प्रचार-प्रसार हुआ। अतः लोक जीवन को पूर्णतः प्रतिष्ठित किया गया।

मुसलमानी शासन-स्थापित हो जाने के बाद भारत की चिन्तन पद्धति में काफी परिवर्तन आया। वैष्णव-भक्ति को अपने-अपने दर्शन में स्वीकार किया गया। द्वैतवादी दर्शन, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि से भारतीय दर्शन-परम्परा को नयी संजीवनी शक्ति मिली। ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में रूपायित हुआ। उसमें मानवीय गुणों का चरम रूप दिखाया गया। ईश्वर को मानवरूप में उतारने का काम राम-भक्तों और कृष्ण-भक्तों ने किया तो निर्गुणियों सन्तों ने उसे अनुभूति में उतारा। भूत-दया, प्रेम-करुणा, अहिंसा, वैराग्यवाद आदि सात्विक गुणों का आग्रह बढ़ा। साधना में ज्ञान, कर्म, भक्ति, श्रद्धा और प्रेम का महत्व बढ़ा। संसार को माया रूप में निर्दिष्ट किया गया। सन्त चरित्र पर जोर दिया गया। इसकाल की विशेषता थी समर्पण की भावना। लौकिक प्रेम को चरम प्रेम तक पहुँचने का सोपान माना गया केवल ज्ञान रूप में। अन्तरात्मा के मूल्य को स्वीकारा गया। जीवन को समग्रता में समन्वित किया गया। जीव मात्र में समता का नैतिक आरोप हुआ। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। ईश्वर पुरुष रूप में महामानव हुआ। उसमें उस युग की समस्त अपेक्षाओं को आदर्श और चरम मूल्य के स्तर पर प्रस्तुत किया गया। ईश्वर को नायक-रूप में समस्त मूल्यों और मर्यादाओं से पूर्ण माना गया। इन भक्तों ने दिव्य को मानवीय धरातल पर खींच कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मानव-ज्ञान के परे लोकोत्तर दिव्य सत्य की ओर मनुष्य की इच्छा और हृदय का झुकाव हुआ। ईश्वर के आदर्श चरित्र के प्रति श्रद्धा जमी। ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये श्रद्धा और भक्ति आवश्यक हुई। ईश्वर से सहज प्रेम करके ही यह सब किया जा सकता था। इस युग में प्रत्यक्ष मानव-देहधारी की कल्पना के साथ भक्ति को मूल्य माना गया। लौकिक मूल्यों का चरम मूल्य ईश्वर या अवतार में माना गया।

कृष्ण-भक्तों ने तत्कालीन धार्मिक साधना के विभिन्न सम्प्रदायों की कुण्ठा, गतिहीनता को भली प्रकार परखा था। निश्चय ही वे धर्म साधनाएँ अपनी सामाजिक मूल्यवत्ता को खो दी थीं। अतः इन कृष्ण-भक्तों ने जीवन को गतिशील बनाने एवं धर्म साधना को मूल्यात्मक सन्दर्भ देने का प्रयास किया। इन कृष्ण भक्तों

की धार्मिक साधना में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन तत्त्व थे। भक्ति में श्रद्धा (पूज्य बुद्धि का अवयव) और प्रेम दो तत्त्व थे। इन कृष्ण भक्तों ने प्रेम को केन्द्रबिन्दु बनाकर अपनी साधना को लौकिक सहजता प्रदान की। इनकी भक्ति में श्रद्धा को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया क्योंकि सामाजिक समता और पुरुष स्त्री के साम्य (सामाजिक मूल्य के सन्दर्भ में) आधारित प्रेम में इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। लोक-जीवन का सहज और सार्वजनीन प्रेम निरा प्रेम ही होता है। इसी जीवन के वास्तविक प्रेम की परिणति ही इन भक्तों की साधना में हुई। इसीलिये शायद रामचन्द्र शुक्ल को कृष्ण भक्तों की भक्ति सीमित जान पड़ी क्योंकि उसमें श्रद्धा जनित मर्यादा नहीं थी। तुलसी को मानदण्ड मानकर उन्होंने इस प्रकार की घोषणा की। किन्तु इन भक्तों ने गोलोक के सीमित जीवन में ही व्यापक और समग्र जीवन की लौकिक सहजता को प्रतिपादित किया। इस प्रेम की स्वाभाविकता को केन्द्र में रखकर ही इन भक्तों ने शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, ब्राह्मण आदि सम्प्रदायों की परम्परित रुढ़ि पर आश्रित धार्मिक साधना का विरोध किया किन्तु उनकी मूल्यात्मक परिणति भी युगानुकूल धार्मिक साधना में प्रस्तुत थी। इसीलिये उनका प्रभाव भी इन भक्तों की चेतना पर है किन्तु अपेक्षित सन्दर्भों में। इन भक्तों ने ज्ञान को भी स्वीकार किया किन्तु भाव के स्तर पर और प्रेम के स्तर पर। ज्ञानी उद्धव से तर्क करती हुई भोली-भाली गोपियाँ उन से अधिक तर्क कर लेती हैं। अपनी अनुराग की मासूमियत में उन्होंने ज्ञान को छिपाए रखा है किन्तु वे नितान्त भोली-भाली नहीं हैं। वे तो विवेक के साथ अपने पथ का वरण करती हैं। नन्ददास की गोपियाँ तो काफी प्रत्ययात्मक हैं और तर्क के साथ अपने अनुराग की सत्यता प्रतिष्ठित करने में तर्कप्रधान हो जाती हैं। कर्म को भी इन भक्तों ने प्रेम की वास्तविकता को बनाए रखने के लिये प्रयोग किया। अपनी दैनिक पारिवारिक और सामाजिक कर्म की भूमिका के साथ यह प्रेम व्यापार भी चलता है।

इन कृष्ण-भक्तों ने अपने प्रेम को गत्यात्मक सन्दर्भ देने के लिये व्यक्तिगत सम्बन्धों के भीतर ही ईश्वर को मानक रुप में उतारा। उनका ईश्वर प्रेम का सन्दर्भ बना और अपने रागात्मक सम्बन्धों में इष्ट भी हुआ। "इष्ट वस्तु के प्रति स्वाभाविक तन्मयता को राग कहते हैं और राग जिसके प्रति धावित हुआ है वही इष्ट होता है। ... ब्रजवासियों का भगवान के प्रति रागात्मक सम्बन्ध था। इसी लिये उनकी भक्ति को रागात्मक भक्ति कहते हैं" (हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी

साहित्य की भूमिका पृ० ७)। मानवीय भाव के स्तर पर ही कृष्ण भक्तों ने कृष्ण को सहज मानव के रूप में उतारा। वह मनुष्य की कमजोरियों और अच्छाइयों के बीच स्वरूप ग्रहण करता है। "...ब्रजभाषा काव्य के प्रारम्भ काल में राधा और कृष्ण इतिहास या तत्त्ववाद की चीज नहीं रह गये थे। वे सम्पूर्णतः भाव जगत् की चीज हो गये थे। भक्ति, प्रेम और माधुर्य की नाना सपदाओं से विचित्र यह युगल-मूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उस ईश्वर में वदिक ईश्वर का सभ्रम नहीं था, ग्रीक अपोलो की भाँति नहीं थी, इस्लामी खुदा की तटस्थता नहीं थी, दार्शनिक ईश्वर की अद्भुतता तो एक दम नहीं थी : था एक सहज सरल घरेलू सम्बन्ध तन्त्रवाद के ससीम रस से सीमाहीन को उपलब्धि के सिद्धान्त ने तात्कालिक जन-समुदाय को सखा रूप से, स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति अग्रसर कर दिया था। भागवत सम्प्रदाय के देव देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण इसके उपास्य अंश थे और आभीरों के बालक-देवता इसके प्रेम रूप थे।" (हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास, पृ० २२)। इस क्रम में प्रेम कृष्ण का रूप लौकिक हुआ। उसमें वात्सल्य, शृंगार आदि की प्रवृत्ति जीवन की स्वाभाविकता में प्राप्त होती है।

विषय की परवाह न की जाय तो प्रेम और काम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कृष्ण भक्तों का काम और प्रेम एकही सा लगता है। इसीलिये गोपियों के प्रेम में काम-रूपात्मकता दिखाई देती है। इसमे आनन्द की एकणीय स्तर पर सुखात्मक उपलब्धि होती है न कि सुख को आनन्द की ज्ञानात्मक सात्विकता देकर उसे लोक से पृथक कर दिया गया हो। अतः अपनी सुख की सीमा में कृष्ण भक्तों के प्रेम की लौकिकता निर्विघ्न है। प्रेम की धारा में ही हमारा जीवन सत्य रहा है। इसको सत्य रूप में वैष्णव भक्तों ने कृष्ण को केन्द्र बनाकर प्रस्तुत किया। यह प्रेम समस्त धार्मिक साधनाओं से श्रेष्ठ और सहज हुआ। सांस्कृतिक संक्रान्ति की उस बेला में इस सहज प्रेम पर आधारित साधना की आवश्यकता थी ताकि अभेद के साथ पूरे जनमानस का एकत्व समाज में स्थापित हो सके। किसी को भी कहीं किसी सन्दर्भ में सच्चा अनुभूतिक प्रेम किया जा सकता है। कर्म में लगा व्यक्ति भी अपनी प्रेमिका या प्रेमी को प्रेम कर सकता है। खिलौने से खेलता हुआ बच्चा अपनी माँ के प्रेम को नहीं भूलता। चारागाह में चरती गाय अपने बछड़ों को दूध पिलाना नहीं भूलती। इसी प्रकार ये कृष्ण भक्त अपने दैनिक कार्य में लगे रहने पर भी कृष्ण के नाम

के साथ उसकी प्रेम की तन्मयता बनाये रखते हैं इसीलिये की उपासना अस्तित्व में आई।

कृष्ण भक्ति का प्रेम वयक्रम में परिवर्तनशील रहा है। यह नहीं कि घटता बढ़ता रहा है। इन भक्तों ने अपने इष्ट के साथ उस प्रेम सन्दर्भ को स्वीकारा है जो वयक्रम में सबसे प्रभविष्णु प्रेम-सम्बन्ध था। भक्तों ने इष्ट के साथ खुद को ही उस वय-क्रम सम्बन्धों में रुपायित किया। छोटे बच्चे के साथ नन्द, यशोदा और अन्य प्रौढ़ों के प्रेम को वात्सल्य के रुप मे स्वीकार किया गया। थोड़ा बड़ा होते ही सखा के रुप में उस इष्ट के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। किशोर अवस्था में गोपियों और राधा के रुप में प्रेम सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रथमतः इन कृष्ण भक्तों ने वात्सल्य प्रेम के रुप में माता के पवित्र प्रेम को स्वीकार किया। माता से बढ़कर कौन होगा जो पुत्र के प्रति सच्चा प्रेम करे और पुत्र को माँ से बढ़कर प्रिय भी नहीं है। माँ के सच्चे हृदय का सच्चा भाव तो माँ के वात्सल्य की गहरायी तक पहुँचने वाला कोई सच्चा भक्त कवि ही कर सकता है। वह यशोदा के रूप में उसकी हर प्रकार की सुरक्षा करना चाहेगी। दिन रात उसकी चिन्ता करेगी। माँ का ही हृदय व्यापक है जो अपनी सभी सन्तान को समान रूप से प्रेम करती है। बड़े सरल ढंग से दो भाइयों के बीच विरोध को हल कर देती है। छोटे बच्चे को माँ के नेतृत्व की बड़ी आवश्यकता होती है। उसके सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास का पूरा दायित्व माँ के ऊपर होता है। माँ यशोदा का व्यवहारिक और पवित्र मातृ हृदय कृष्ण भक्तों के काव्य में चित्रित हुआ है। बलदेव और कृष्ण में गोरे और काले रग को लेकर मनोमालिन्य हुआ है तो माँ शपत खाकर इसका समाधान कर लेगी। (यह गोरे और काले का संघर्ष और उसका समाधान आर्यों और अनार्यों के बीच का संघर्ष और साम्य प्रतीत होता है :)।

मैया मोहि दाउ बहुत खिझायौ।

* * * *

गोरे नन्द यशोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।

* * * *

सुनहु स्याम मोहि गोधन की सौं, हौ माता तू पूत॥ सूर सागर, ८३३।

कृष्ण की दिन रात रक्षा करने वाली माँ की सहजता वियोग की अवस्था में

कलेजा फाड़कर छपकती है इस प्रकार इस विरह की वेदना में प्रेम का अतीन्द्र रूप लौकिक यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। यह प्रेम ही अपने-आप में पूर्ण सत्य बन कर सामने आया है।

> मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वसेंहि धर्यौ रहै।
> को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै॥
> सूने भवन जसोदा सुत के, गुनि-गुनि सूल सहै।
> दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिन उरहन कोउ न कहै॥
> जो ब्रज में मन आनन्द हुतौ, मुनि मनसा हूँ न गहै।
> सूरदास स्वामी बिनु गोकुल, कौड़ी हूँ न लहै॥ —सूरसागर।

कुछ बड़े होते ही कृष्ण ग्वाल सखाओं के बीच रहना चाहते हैं। उन्हीं के साथ खेलना, खाना, पीना चाहते हैं। बड़े सामान्य स्तर पर सार्वजनीन एकात्मकता भी दिखाई गयी है। समाज की प्रेम पूर्ण एकात्मकता ही लोक में अलौकिक सुख की प्राप्ति है। सच्चे मित्र की मित्रता भी यही है कि वह अपने मित्रों में गोपनीय न रहे। कृष्ण की हर गोपनीयता गोप सखाओं को ज्ञात रहती है। वे उनसे स्वाभाविक रूप से जुड़े हैं उन्हें किसी प्रकार का आतंक नहीं है। कृष्ण का विरोध भी आवश्यक सन्दर्भ में करते हैं और सहयोग भी करते हैं। अब तो कृष्ण यशोदा से भी ज्यादा ग्वाल बालों के साथ रहते हैं। भला कृष्ण भक्त अपने को सखा रूप में क्यों न ग्रहण करेंगे? इष्ट और रूपात्मक प्रेम वही होगा, बस प्रेमी का जागतिक सम्बन्ध बदल जाएगा।

कृष्ण भक्तों को इसी में सन्तोष नहीं होता। वे तो वयक्रम में अपने को पुरुष और पत्नी के रूप में प्रेमालिप्त करेंगे। चाहे वह स्वकीया भाव में हो, चाहे परकीया भाव में। क्योंकि "काम भाव की चरम सीमा स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में होती है और यही मानवीय सम्बन्धों में सबसे अधिक घनिष्टता और तल्लीनता का द्योतक माना जाता है। पुरुष की अपेक्षा प्राकृतिक नियम के अनुकूल स्त्री इस भाव का प्रतिनिधित्व अधिक स्वाभाविकता से कर सकती है। आत्मसमर्पण की भावना पुरुष के द्वारा आदर्श रूप में चित्रित नहीं की जा सकती" (ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास जीवन और काव्य का अध्ययन, पृ० २६९)। अतः कृष्ण भक्तों ने गोपी और राधा भाव को ही केन्द्र बनाया। इन गोपियों का प्रेम ऐन्द्रीय और मानसिक स्तर पर बड़ा ही स्वाभाविक रहा है। इसकी प्रपत्ति के लिये कृष्ण की मनोहर और प्रेम परक लीलाओं को आधार बनाया गया। कृष्ण के साथ

इन भक्तों का माधुर्य भाव राधा में चरम परिणति देखता है। यह बचपन का प्रेम है जो सामाजिक संस्कार के क्रम में उत्तरोत्तर विकास पाता है। अपने बचपन से संस्कार और जातीय चेतना की स्वच्छन्दता में प्राप्त प्रेम की उष्णता गोपियों मे दिखाई देती है। प्रेम की अतिशयता में ही मनुष्य रुढ़ियों से मुक्ति बड़ी आसानी से पाता है। अपने प्रेम की स्वाभाविकता की स्थापना के लिये गोपियाँ अपने इष्ट प्रेमी के आलिंगन मे बँध जाना चाहेगी। मनुष्य का सारा वेग तो प्रेम में छिपा है। प्रेमी की दूरी निश्चय ही उसकी प्रेरणा को भटका देगी।

चित का चोर अवहीं जो पाऊँ।
हृदय कपाट लगाइ जतन करि अपने मनहि मनाऊँ।
जवहिं निसक होत गुरुजन ते तिहिं औसर ज आव
भुजनि धरौं भरि सुदृढ़ मनोहर बहुदिन कौ फल पावै।
लै राखौं कुच बीच चाँपि करि तन कौ ताप बिसारौं।
सूरदास नद नदन को गृह-गृह डोलनि श्रम हारौं।

—सूरसागर, पृ० ९१६।

हित हरिवंश ने तो लंपट और कामी कृष्ण के प्रेम में भी स्त्रियों के सामाजिक बन्धन का निवारण देखा। बहुत दिनों से सामाजिक बन्धन में तड़पती स्त्री जाति का उन्मुक्त प्रेम इन भक्तों के काव्य मे अपेक्षित रुप में व्यजित है।

प्रात समय दोऊ रस लपट सुरत जुद्ध जय सुत्त अति फूल।
श्रम वारिज धन बिन्दु बदन पर भूषण अगहि अंग विकूल॥
कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावली वहन कमल माने अति भूल।
हित हरिवंश मदन रंग रंगि रहे नैन बैन करि शिथिल दुकूल।

श्री हित चौरासी, पद. ३—।

प्रेम के इन पदों में लौकिकता का भरपूर प्रयोग हुआ है। यदि हम सत्य को इनकार करके मर्यादावादी न हों तो निश्चय ही दाम्पत्य और प्रेमिका के सहज प्रेम की अभिव्यजना में इस प्रेम को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इन भक्तों ने प्रेम के विभिन्न हाव-भाव, सुरति, क्रीड़ा आदि का भरपूर चित्रण किया है। विभिन्न नायक नायिकाओं के माध्यम से पुरुष और नारी के

पूर्ण लौकिक प्रेम का खुल्लमखुल्ला प्रयोग सामाजिक शक्ति का ही परिणाम है और लौकिक प्रेम की पीठिका पर धर्म को स्थापित करके उसे जन-सामान्य-सुगम बनाने का प्रयास किया गया है। इस संयोग-प्रेम की व्यंजना में सिद्ध साधना का भी प्रभाव रहा है किन्तु भोग की शून्यवादी धारणा यहाँ नहीं है अपितु प्रेम की उभय भावधारा में अनुभूतिक स्तर पर मर्यादा के कवच से निकाला गया है। समस्त जीवन्त प्रक्रिया में प्रेम धार्मिक भी है और अपना मूल्यात्मक सन्दर्भ भी रखता है। प्रेम के विविध रुप जो इस जीवन में पाये जाते हैं वे ही धार्मिक साधना में व्यंजित हुए हैं और इस प्रकार लोक को अलौकिक तक और अलौकिक को लोक तक लाने का उद्यम रहा है। पूरी लौकिक चेतना ने असीम को सीमा में सहज रुप में बाँधने की कोशिश रही है।

अपने इस विराट् और व्यापक जीवन को एक क्षण भी जीवन से अलग ये भक्त नहीं करना चाहते हैं। उसकी सही व्यंजना विरह की व्यंजना है। विरह की यह व्यंजना कवियों के भाव का ही प्रतिनिधित्व करती है। बड़े ठोस धरातल पर जिस प्रेम को मूल्य के रुप में इन भक्तों ने स्वीकारा है उसे किसी भी रुप में छोड़ नहीं सकते। यही दृढ़ता तो सामाजिक दृढ़ता है। विरह में मानवीय स्तर पर प्रेम का ही परिष्करण होता है। भक्ति की प्रेमासक्ति में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समुचित निर्वाह हुआ है। प्रेम का सन्दर्भ रुप से है। रुप से जुड़ते ही प्रेम की व्यवहारिक पीड़ा भी शुरु हो जाती है। कायिक मांसलता से परे उसमें विवशता और पीड़ा होती है। अनुभूतिक प्रेम की सच्चाई भी इसी में है। यह पीड़ा और वेदना भी तब होती है जब प्रेमी प्रिय पर समर्पित हो जाता है। यह समर्पण भी भाव की तन्मयता मे ही सम्भव होता है। इस तन्मयता की भावस्थिति में अद्वैत नहीं द्वैत रहता है क्योंकि प्रेम में अन्तर्वर्तिनी विभेद आवश्यक है। मानसिक स्थिति में प्रेमी एक हो जाते हैं। फिर 'मैं अपनो मन हरत न जान्यौं' की स्थिति आ जाती है। तन्मयता की स्थिति में अपने को बचाने का प्रयास नहीं होता अपितु जिसमें प्रिय को अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दिया जाता है। इस स्थिति में प्रेमी प्रेमिका में बचाव नहीं समर्पण हो जाता है। दोनों एक दूसरे को अपने में देखते हैं। कृष्ण भक्तों में यही तन्मयासक्ति पूर्ण समर्पण रहा है। इसी के कारण विरह की व्यंजना में भी स्वाभाविकता आ गई है। विरह में हृदय का आवेग बड़ा विचित्र हो कर कृष्ण भक्तों की रचना में प्रस्तुत हुआ है। इसमें लोक ही

परलोक और परलोक ही लोकमय हो जाता है। विरह की विक्षिप्तता ही तन्मयता है।

बिरहनी बावरी सी भई।

ऊँची चढ़-चढ़ अपने भवन में टेरत हाय दई।

ले अंचरा मुख अँसुवन पोछत उघरे गात सही।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बिछुरत कछु ना कही। —मीरा, पद—१३३।

विरहिनी का दर्द बड़ा कठिन है उसको जानने वाला भी उसी पीड़ा को सहने वाला होना चाहिए। प्रियतम का कष्ट प्रियतम द्वारा ही पुष्ट होगा और उसी के द्वारा निवारण भी होगा। यही तन्मयता और समर्पण का प्रमाण है। भावात्मक सवेदना में ही इस वेदना का अस्तित्व है।

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय।

सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय।

* * * *

घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय।

* * * *

मीरा के प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सँवलिया होय। —वही पद, ५७९।

कृष्ण भक्तों ने प्रेम को धर्मसाधना का केन्द्रवर्ती मूल्य माना और उसे सामाजिक परिप्रेक्ष में प्रस्तुत किया। इसी लिये प्रेम को अभिन्न तत्व के रुप में स्वीकार किया। अतः इन भक्तों की भक्ति नवधा से दशधा हुई। प्रेम और साधना का पूरा स्वरुप लौकिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ। अलौकिक प्रेम की व्यजना की बात को उठाकर इस धार्मिक आन्दोलन को पलायनवादी नहीं ठहराया जा सकता। यह तो राज्य-निरपेक्ष और सत्ता निरपेक्ष था किन्तु समाज-निरपेक्ष नहीं। यही नहीं समाज के सापेक्ष युगीन अपेक्षाओं के क्रम में एक काल्पनिक जन-सत्ता की प्रतिष्ठा का क्रान्तिकारी प्रयास इस युग में हुआ।

प्रेम मूला भक्ति पर शंकर के अद्वैतवादी दर्शन का बुरा प्रभाव पड़ा। जगत् की अस्मिता का सवाल ही नहीं रह गया। वर्णाश्रम की व्यवस्था देते हुए शकराचार्य जाति व्यवस्था पर चुप रह जाते हैं। अतः उनका विचार केवल वर्णाश्रम धर्म की स्थापना और ज्ञान की उच्चता का ही प्रतिष्ठापन बनकर रह जाता है। दक्षिण मे ही ससार और जगत् की अस्मिता का प्रश्न भी दर्शन के

माध्यम से उठाया गया। भक्ति की सहज साधना की स्थापना हेतु भी यह आवश्यक था। क्योंकि प्रेम के लिये [illegible] आवश्यक है। जो प्रेमी मूल्यात्मक सन्दर्भ और भौतिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में एक होगी किन्तु रूपात्मक एवं प्रेम के विषय विषयी रूप में भिन्न आवश्यक है। जब तक दोनों का अस्तित्व नहीं होगा तब तक प्रेम होना असम्भव है। इस प्रकार ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या के सिद्धान्त को खंडन आवश्यक था। लौकिक जीवन और जगत् की अस्मिता को लेकर खड़ा होने वाले दर्शन की खोज आवश्यक थी। इस अपेक्षा के क्रम में मध्वाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत और रामानुज ने विशिष्टाद्वैत तथा वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन की स्थापना की। इन सब दर्शनों में जगत् और जीवन की अस्मिता को प्रस्तुत किया गया। दर्शन और धर्म के लौकिकीकरण की प्रवृत्ति इन आलवार सन्तों के दर्शन के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। इसी के साथ प्रेमाभक्ति की स्थापना हुई। मानवीय प्रेम के क्रम में ईश्वर को प्रेम की वस्तु बनाया गया और एक सरस प्रेमी या मनुष्य की सहज मानवीय संवेदनाओं के साथ वह किसी का बेटा, किसी का पति, किसी का प्रेमी सखा सब कुछ हुआ और जन-जीवन और जगत से बाहर उसका अस्तित्व नहीं यदि है भी तो जगत् के सन्दर्भ में उसका कोई अस्तित्व भी नहीं और किसी प्रकार की अर्थवत्ता प्रतिपादित नहीं होती है। भक्तिकालीन भक्तों ने प्रेमाभक्ति को इन्हीं द्वैतवादी दर्शनों के साथ स्वीकार किया। इस जगत् की रचना करके ईश्वर भी इसी जगत् की सीमा में फँस गया या वह भी मानवीय चरित्र करने के लिये बाध्य हुआ। इसी दर्शन की मान्यता में भक्तों ने इस बात को स्वीकार किया कि एकबार भक्ति को स्वीकार करने के बाद ईश्वर ही भक्तों के बस में हो जाता है केवल भक्त ही नहीं। इसीलिये भक्ति कालीन भक्तों के लिये भक्ति साधन और साध्य दोनों रही। भक्ति के द्वारा भक्त भक्ति को ही चाहता था। यहीं उसकी निष्कामता निष्पादित होती है। इसी द्वैतवादी दर्शनों का प्रभाव हुआ कि अमूर्त ब्रह्म को नाम और रूप के साथ गुणात्मक बना दिया गया। मानवीय मूल्यों के चरम रूप में उसको मानव बनाकर मानव के बीच उतारा गया। यही नहीं असामान्य लीलाओं के करने पर भी वह सामान्य मानव की भाँति माँ के पेट से पैदा हुआ। सृष्टि को बनाने वाले ने खुद को मानव बनने दिया होगा। इससे ज्यादा लौकिक जीवन की अस्मिता की स्थापना का प्रयास और क्या हो सकता है? ईश्वर प्रकृति और

पुरुष के रुप में दाम्पत्य एकात्मकता में बाँधा गया। ईश्वर की शक्ति ईश्वर की सहचरी बन कर इस जीवन के साथ प्रतिष्ठित हुई। समय और क्षेत्र के सापेक्ष उसकी मूर्ति को समझा गया। राधा और कृष्ण की एकात्मकता दो दम्पतियों की अपेक्षित एकात्मकता हुई। ·····

राधा माधौ दोय नहीं।
प्रकृति पुरुष न्यारे नहिं कबहूँ वेद पुरान कहत सबही॥

* * * *

सूरदास राधा माधौ के तन द्वै एकै प्रान॥ सूरसागर द्वितीय खण्ड, ५।
छाया तरुवर दोइ नही।
नैन दोइ स्रवन दोइ ज्यों, कहन सुनन को दोइ नहीं।
दोइ न कचन-भूपन कबहूँ जल तरग ज्यौ दोइ नहीं।
त्यौ ही जानि सूर मन बचक राधा माधौ दोइ नहीं॥ वही, ६।

दाम्पत्य जीवन के टूटते क्षणों मे दाम्पत्य जीवन को एकात्मकता देने वाले इस दार्शनिक चिन्ता से बढ़कर सम्बल और कहाँ मिल सकता है?

कृष्ण भक्तों की जितनी सम्प्रदायें थी सबमे ईश्वर और जीव के सम्बन्धों को पत्नी, प्रेमिका (स्वकीया या परकीया), सखी आदि के क्रम में लीलात्मक कृष्ण के साथ देखा गया। सबका प्रयास यही था कि वह ईश्वर, प्रत्येक प्राणिमात्र को मानवीय स्तर पर सुगम हो सके। भक्त को गृहस्थ धर्म छोड़ना भी नहीं था क्योंकि प्रायः सस्थापक आचार्य गृहस्थ धर्म से जुड़े थे। इस प्रकार जीवन की प्रक्रियाओं में ही ईश्वर को लाकर बैठा दिया गया। इन भक्तों ने दर्शन की चिन्ता के साथ जीव को शक्तिसम्पन्न बना दिया क्योंकि जीव तो ईश्वर का अंश और अग्नि का स्फुलिंग है या मकड़ी के जाले की तरह ईश्वर के भीतर से बना वह जगत् का प्राणी है जिसमें ईश्वर स्वय फँसा हुआ है। इसी धारणा के द्वैतवादी दर्शन ने धार्मिक विश्रृंखलता के उस युग में घर-घर मे मन्दिर की स्थापना कर दिया यानी हर हिन्दू का दिल ही मन्दिर हो गया। हर व्यक्ति अपने आप में ईश्वर को प्राप्त कर सका और भक्त कवि स्पष्ट ढंग से कोशिश कर सका कि 'आपुन पौ आपुन ही मैं पायो'। इस दर्शन का प्रभाव कितना व्यापक हुआ? मनुष्य धर्म के प्रति, अपनी सत्ता के प्रति, अपनी क्षमता के प्रति अजनबी नहीं रहा। अब उसने अपनी एक मनुष्य की शक्ति को पहचानने में सफल हुआ। सांसारिक माया को इन दार्शनिक भक्तों ने ईश्वर के साथ

सम्बन्धित किया। इसी माया के कारण ईश्वर लीलात्मक होता है। यही माया जीव को अविद्या माया के रूप में अजनबी बनाये रखती है। उस माया को स्त्री रूप में चित्रित करते हुए भक्तों ने उसपर स्त्री के द्वारा ही विजय प्राप्त की। भक्ति भी स्त्री रूप थी। इस भक्ति रूपी स्त्री के सामने माया विवश हो जाती है। अतः भक्ति या प्रेम की सत्ता इस जगत से ऊपर प्रतिष्ठित होती है। अतः प्रेम निन्दनीय नहीं अपितु वरेण्य हुआ। इसके द्वारा समाज में गति भी आई। प्रेम को सामाजिक मर्यादा का संरक्षक बना देने के कारण भारतीय समाज और संस्कृति कुण्ठित हो गयी थी।

माया और जगत् तथा ईश्वर में एकात्मकता प्रतिपादित की गयी क्योंकि ईश्वर की लीला का कारण तत्व माया है और जगत् उसकी क्रीड़ाभूमि है जीव भी भक्ति के द्वारा सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य के माध्यम से ईश्वर में ही लय पाना चाहता है। ताकि व्यक्तिगत जीवन अपनी सारी व्यक्तिगत सीमाओं को त्यागकर उस व्यापक मानवीय जीवन या सामाजिक जीवन में पर्यवसित होकर सृजनात्मक भूमिका अदा करना चाहता है।

ब्रह्म और जीव की सत्ता इन भक्तों ने स्वीकार की। माया-लिप्त जीव अपनी उदासता के लिये उत्तरदायी है। ईश्वर इस जगत् की रचना सच्चे संकल्प के साथ करता है। अतः यह जगत् भी सत्य ही है। ब्रह्म की करुणा, दया आदि संसार में गुण रूप में उपलब्ध हैं। अतः उस सगुण की सत्ता इन गुणों के साथ इस जगत् में है। जीव कर्म और कर्म के फल को प्राप्त करने की क्षमता रखता है क्योंकि जीव की सापेक्षिक सत्ता है। धर्म के विशृंखलित होने से आवश्यक हो जाता है कि दर्शन का विकेन्द्रीकरण करते हुए उसे धार्मिक सम्प्रदायों से हटाकर मनुष्य की अनुभूति में प्रतिष्ठित कर दिया जाय। कृष्ण भक्तों ने ऐसा ही किया। भक्ति और दर्शन के उपयोग से साधना को दैनिक जीवन की प्रक्रिया में ढालने का प्रयास किया गया। इस प्रकार हिन्दु जाति को ईश्वर के करीब ले जाकर उसे अपने आप में उत्कर्षित बोध कराया गया ताकि उसे आत्म-विश्वास और आत्मबल प्राप्त हो सके।

शुद्धाद्वैत में ब्रह्म और जीव को एक ही माना गया। ब्रह्म जीव में केवल अपनी अभिव्यक्ति करता है। जब ईश्वर या ब्रह्म रमण करने की इच्छा करता है तब वह अपने सच्चिदानन्द रूप में से कुछ गुणों का लोप करके जीव का

रूप ग्रहण करता है यानी रमण का सुख उसी ईश्वर रूप में न होकर जीव रूप में ही हो सकता है। वल्लभाचार्य जीव को जगत् से ऊपर मानते हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में प्रेम को दृढ़ आधार बनाया गया। यह प्रेम ईश्वर की कृपा पर ही सुलभ है। इस सन्दर्भ में भी प्रेम अपने आप में मूल्यवान है क्योंकि वह ईश्वर के अनुग्रह का प्रतिफल है ईश्वर का पूरा रहस्य इस जगत् में लीला के रूप में ही प्रकट हुआ है। इसी लीला के साथ जीव ब्रह्म के निकट हो सकता है। इसकी पूरी दार्शनिक पृष्ठभूमि मानव की उदात्तीकृत भूमिका है। नित्य लीला के साथ अवतारी भक्त के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस क्रम में जीव लीला के साथ अपूर्ण से पूर्ण होता चलता है। "वस्तुतः देखा जाय तो उदात्त का मानवीकरण, मानवीयता का उदात्तीकरण भी इसी प्रक्रिया में होता है। नैसर्गिक और लौकिक दोनों का प्रवाह एक साथ एक ही दशा में-बराबर बना रहता है। लौकिक जीव की सीमा है। नैसर्गिक उसकी आकांक्षा। लौकिक उसकी बाध्यता है नैसर्गिक उसकी मुक्ति। लीला भाव में जीव बराबर इन दोनों मनःस्थितियों में बराबर आता रहता है" (लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ३३)।

सच बात तो यह है कि अलौकिक दर्शन और धर्म को इन कृष्ण भक्तों ने मानवीय व्यापार में प्रस्तुत किया। मनुष्य जीवन में ही संसार की वेदना, पीड़ा और कष्ट है और यहीं अलौकिक आनन्द भी है। लौकिक सहजता में ही नैसर्गिक आनन्द तिरोहित है। उसे ही ईश्वरीय सत्ता के बीच डालकर अनुमोदन करने की विधि इन कृष्ण भक्तों ने निकाली। उसमें जटिलता न थी अपितु लौकिक सहजता थी। उसमें स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप मानव की सामाजिक माँग भी सन्निहित है।

भक्ति काल में जिस संस्कृति का स्वरुप मिलता है, वह भक्ति-प्रधान है; जिसमें ज्ञान कर्म और भक्ति का प्राधान्य है, इसमें आदिकाल के अप्रौढ़ सांस्कृतिक मूल्यों का पूर्णतः बहिष्कार किया गया परम्परित रूढ़ियों के विरोध के साथ साम्प्रदायिक संस्कृति का विरोध उभर कर आ गया था। कृष्ण-भक्तों ने नये सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षाओं को समझा और उसके अनुसार आध्यात्म परक संस्कृति की पुनर्स्थापना की। इन कवियों ने युगीन संस्कृति को नयी दिशा दी। मानव-मूल्यों को हर क्षेत्र में स्थापित करने का प्रयास किया। अतः कृष्ण भक्तों का साहित्य अपनी सीमा में मानव की महत्ता को बाँधता है।

सौन्दर्य परक मूल्य और कृष्ण-काव्य।

साहित्य को जीवन के समस्त मूल्यों की संश्लिष्ट रचना मान लेने के बाद भी उसकी कलात्मकता और सौन्दर्य बोध को स्वीकार किया गया। निश्चय ही काव्य में चित्रमूर्ति और संगीत की भाँति अभिव्यक्ति की उत्कट आकांक्षा होती है। मनुष्य की सहज वृत्ति है कि वह अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है और साहित्य के माध्यम से वह पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है क्योंकि वहाँ वर्ण और चित्र दोनों का संश्लेष होता है। इस रुप में वस्तु और रुप की एकता के साथ कला का व्यक्त रुप उसकी अभिव्यक्ति है। कला में वस्तु और रुप का द्वन्द चलता रहता है और समय के साथ वस्तु और रुप में संश्लिष्ट परिवर्तन होता रहा है। यह केवल एक समय की समस्या नहीं है, अपितु युगों से चलने वाली कला-चिन्तकों की समस्या है। इस द्वन्द का अस्तित्व सार्वभौमिक रहा है। कला जीवन की अभिव्यक्ति है अतः कला-रचना के भीतर जब जीवन और युग की सक्रिय शक्ति को जानना होगा तो उसके वस्तु तत्व का ही सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार काव्य से लेकर कला के विविध आयामों में हमें दिखाई देगा कि ललित कलाएँ युगानुकूल रुप की तलाश में सन्नद्ध रही हैं या होती हैं। एक निश्चित काल की कला रचनाओं में युग-चेतना का अन्तर्सम्बन्ध या विकास दिखाई देता है। कलाओं के अभिव्यक्त रुप में सन्तुलन होता है और इस रुप में वह निश्चित समय की उपलब्धि होती है। किन्तु कला का आन्तरिक वस्तु-तत्व का गुण गति एवं परिवर्तन रहा है। इसी कारण कलाओं के रुप-गठन में परिवर्तन होता रहता है। विषय-वस्तु के परिवर्तन के साथ नये कला रुपों की माँग होती चलती है जो वस्तु परिवर्तन के साथ कला-रुपों में परिवर्तन का कारण बनता है। इसके विपरीत भी विचार रहा है कि विषय-वस्तु की महत्ता कलाकार के सापेक्ष ही प्रस्तुत हुई या होती है। विषय-वस्तु का मूर्तन निश्चय ही विषय-वस्तु पर निर्भर होता है किन्तु विषयवस्तु का अमूर्त रूप विषय-वस्तु का निर्णायक नहीं हो सकता, किन्तु विषय-विन्यास के कलात्मक बोध के सन्दर्भ

में सक्रिय और विषय-वस्तु को निष्क्रिय मानना दूरदर्शिता का परिचायक नहीं है मनुष्य के सामने प्रकृति, जो वस्तु-क्रम में स्थित है, उसमें वह उपयोगितात्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नया संगठन करता रहता है। इस प्रकार उसकी सृजनशीलता ही प्रमाणित होती चलती है। मनुष्य अपनी सृजनशीलता को प्रतीकबद्ध कल्पना मूलक रचनाओं में प्रस्तुत करता है। उसकी प्रतीकबद्धता रुपात्मक अभिव्यक्ति में निहित होती है। मनुष्य अपनी सृजनशील कल्पना के आधार पर प्रस्तुत को उच्चतर भावन के साथ प्रस्तुत करता है। मनुष्य इस नैतिक एव सौन्दर्य परक अनुभूतियों को उच्चतर से यथार्थ तक लाने के प्रयास में ही प्रगतिशील होता चलता है।

कलाकार रुपात्मक अभिव्यक्ति के क्रम में जीवन की नकल नहीं अपितु सम्भाव्य-जीवन स्पन्दनो की सृष्टि करता है। इसके वाद भी उसका जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। वह कला मे उस अर्थ की अभिव्यक्ति करता है जो उसके परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया मूलक सभावनाओं में निहित है। इस रुप में कला हमारी प्रेक्षण शक्ति और रसास्वादन की प्रक्रिया को प्रखर करती है। जव कलाकार का अनुभव प्रतीक बद्ध होता है, तो वह भावना करने वाली चेतनाओं का अंग वन चुका होता है। इस प्रकार कलानिबद्ध अनुभव सुसंघटित और निश्चित आकार-प्रकार वाला होता है और इस रुप में वह एक साथ ही भोग्य होता है। कला हमारे जीवन में स्पन्दन जागृत करता है अतः उसका क्षेत्र व्यापक होता है। कलाकार जब साक्षात् बोध या प्रतीति करता है, तभी कला का उद्भव होता है जिसका समीकरण ज्ञान पर निर्भर करता है। कलाओ में माध्यम की विविधता के साथ सामान्यता भी होती है। कला के स्तर पर मनुष्य की आवेगात्मक प्रतिक्रिया प्रस्तुत एव अप्रस्तुत दोनों स्थितियों में होती है। "वे विषय या वस्तु-पक्ष जो हममें सौन्दर्य-सवेदना जगाते हैं, अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे ध्वनियों के समूह, संगीत में, रेखाकृतियाँ तथा अन्य आकार एव सरल चित्राकन में, जटिल कर्मों, मनोभावों अथवा विचारों के सगठन इत्यादि। यहाँ यह बात भी लक्षित करने की है कि मनुष्य केवल उसी वस्तु के प्रति आवेगात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता जो उसकी इन्द्रिय के सामने वर्तमान होती है, बल्कि उन वस्तु-सगठनों के प्रति भी जो उसकी कल्पना द्वारा उपस्थित किये जाते हैं" (देवराज : पृ० २३२)। कला सम्बद्ध रुप में जीवन की विविधता को प्रकाशित करती है, जिसका आवेगात्मक महत्व होता है। इसका तात्पर्य

यहाँ के कला [illegible] युग [illegible] के पुनरुत्थान [illegible] है, परन्तु [illegible] जीवन प्रक्रिया में नये रूपों का सृजन होता रहता है। इस प्रकार [illegible] रूप में कलाकार की विभिन्न अनुभव उसका स्वरूप और संवेदन ही [illegible] गये हैं। इस रूप में कलाकार अपने विचारों को नये ढंग से विकसित देता है और समन्वित भी करता है। इस रूप में कला अपने युग और ऐतिहासिक मनुष्य को अपने में समाहित कर लेती है। मनुष्य के बौद्धिक दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ कला में भी परिवर्तन होता रहता है। ज्ञान विज्ञान का परिवर्तन कलात्मक अनुभूति को प्रभावित करता है। कलाकार युग का प्रतिनिधित्व करता है, इस रूप में कलात्मक संवेदना अवश्यमेव प्रभावित होती चलती है। कलाकार अपने युग द्वारा महसूस की जाने वाली चीजों को जीवन की अनुभूति में, नये रूप में रचता है और नवीनता को प्राप्त करता है। अतः नवीन विधान में सामान्यरूपता को प्रतिस्थापित करना ही कला की महानता होती है। इसके साथ ही मानव-चेतना की समस्त प्रमुख विशेषताएं कलात्मक अनुभूति में होती हैं, क्योंकि वह कलाकार के आत्मिक जीवन का अंग होती है।

मनुष्य अपने भीतर के किसी सत्य को प्रकट करने की अभिलाषा से ही कला की सृष्टि करता है। इसके लिये कलाकार रंग, रेखा, ध्वनि और शब्द आदि शक्तिशाली माध्यमों को स्वीकार करता है। कलाकार अखण्ड अभिव्यक्ति के लिये समय-समय पर इन्हें स्वीकार करता चलता है। मनुष्य की दीर्घ कालीन साधना, अभ्यास और प्रयोग की प्रक्रिया ही कला का विकास है, जिसमें मानव की समस्त चेतनाओं का विकास अपने मूल्य क्रम में अभिव्यंजित होता है। "दृश्य या अदृश्य, स्थूल या सूक्ष्म, वस्तु या भाव से सम्बन्धित सौन्दर्यानुभूति साकार होकर मनुष्य के सामने व्यक्त रुप में प्रकट होती है तो उस अभिव्यंजना को कला कहते हैं। कला काल्पनिक सौन्दर्य को भी अभिव्यक्त करके मनुष्य के अन्तर की निधि को प्रत्यक्ष कर देती है" (जयसिंहनीरज राजस्थानी चित्र कला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ० १ भूमिका)। इस प्रक्रिया में कलाकार नवीनता का शिकार होता चलता है, किन्तु परम्परा में नवीनता को समाहित करने में कलाकार की अपनी सीमा है। कलाकार का सिद्धान्त प्रतिपादन उसके चित्रों से सम्बन्धित होता है। चाक्षुष कलाओं में परम्परा का पोषण होता रहता है। परम्परा के द्वारा ही मनुष्य की आदतों, रुचियों और घृणाओं की उत्पत्ति होती

है जो हमारे प्रकृति के अनुभव पर आधारित रहती है और इसके द्वारा ही हमारे सौन्दर्य के प्रतिमानों की सृष्टि होती है।

कला का अन्य प्रयोजनों के साथ सौन्दर्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। सौन्दर्य मिश्रवृत्ति है। उसके योजी तत्व हैं, प्रीति या आनन्द और आकर्षण। मनुष्य स्वभाव से ही अपने कार्यों को सुन्दरतर बनाने का जिज्ञासु रहा है। सौन्दर्य की प्राप्ति पर आनन्द का अनुभव होता है। सौन्दर्य माध्यम है और आनन्द लक्ष्य। सुन्दरता की परख के लिये संयोजन की आवश्यकता होती है। कला में सौन्दर्य का होना आवश्यक माना गया है। यदि कला रुप है तो सौन्दर्य का होना आवश्यक माना गया है। यदि कलारुप है तो सौन्दर्य उसका प्राण है। अतः कला में कार्य की सुन्दरता अपेक्षित होती है। इस प्रकार कला-विवेचन का यह अर्थ नहीं कि दार्शनिक धारणा का दार्शनिक निरुपण किया जाय, बल्कि ललित कलाओं के कलात्मक सौन्दर्य-लोक का आपात-दार्शनिक विश्लेषण किया जाय। सौन्दर्य की रसानुभूति के रुप में भारतीय सौन्दर्य शास्त्रीय परम्परा में स्वीकार किया गया। 'हम जानते हैं कि कल्पना वेष्ठित सौन्दर्य ही सौन्दर्यशास्त्र की केन्द्रस्थ कल्पना है और विघ्न विनिर्मुक्ता संवित्ति ही कला-सर्जना के लिये अभीष्ट है। विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति जब कलानुभूति बनती है, तब वह भारतीय काव्य शास्त्र मे प्रतिपादित रसानुभूति की तरह झटिति प्रत्यय बन जाती है" (कुमार विमल : कला विवेचन, पृ० ३)। बींसवींशताब्दि में यथार्थ और अन्तश्चेतना की दृष्टि से कला को झकझोरने की पूरी कोशिश की गयी है। किन्तु, अब भी लोग मानते हैं कि कला-सृजन के द्वारा कलाकार की अस्मिता का विस्तार और उदात्तीकरण होता है। यह बात कवि, स्वरकार, चित्रकार, मूर्तिकार-सब पर लागू होती है। समन्वयवादी विचारकों की दृष्टि में कलाकार के लिये इतना ही आवश्यक है कि वह जगत् प्रपच और परिवेश की प्रक्रियाओं के प्रभाव से अपनी आत्म-निष्ठता को पंकिल नहीं होने दे तथा जीवन-मूल्यों के निजी बोध को उत्तरोत्तर समृद्ध करता रहे। कारण, कला की उत्कृष्टता आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता के विकल्प पर निर्भर नहीं करती बल्कि कलाकार की अन्तः प्रज्ञा के द्वारा विकसित वस्तु-ग्रहण की उस भंगिमा पर निर्भर करती है, जिसे गेटे ने आनशूग कहा है (कुमार विमल, पृ० ७)।

सौन्दर्य एक वांछित वस्तु है। सौन्दर्य का स्पष्ट गुण सुख है। लेकिन सौन्दर्य काल, देश और व्यक्ति तथा परम्परा से नियमित होता है। अतः

कला-क्रम में दिखाई देने पर सुखानुभूति को सौन्दर्य माना गया। निश्चय ही सौन्दर्य-भावना मानव की आत्मिक भूमि का एक क्षेत्र है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि काव्य और कला की रचना और आस्वादन में अहंकार का साधारणीकरण होता है और मनुष्य की कल्पना या प्रतिभा का उद्देश्य सार्वभौमिक सिद्धि को प्राप्त करना होता है। इस रचना और आस्वादन की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने अहं का स्वयं द्रष्टा होता है और अपने कर्तृत्व एवं अहंकार की सीमाओं में संकीर्णता- मुक्त होता है। इसके साथ ही वह 'मूल्य-विश्व' में विचरण करता है। कलात्मक मूल्य में अन्य मूल्यों के साथ रस की भी खोज रहती है। अतः इस रूप में मूल्यों के विकास को कला के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। "कलात्मक अनुसन्धान अन्य मूल्यों को विषय बनाता हुआ उनके द्वारा एक अपूर्व मूल्य, अन्य मूल्यों का मूल्य या रस खोजता है। यह भी अवधेय है कि कला-क्षेत्र में मूल्यों की सांकेतिक अभिव्यक्ति का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि अभिव्यक्ति का कौशल स्वयं एक विशेष मूल्य बन जाता है, यहाँ तक कि अनेक विचारक कलात्मक मूल्यों को अभिव्यक्ति कौशल ही मानते हैं। वस्तुतः इसकी समानान्तर स्थिति अनेक क्षेत्रों में प्राप्त होती है जहाँ साध्य और साधन का सम्बन्ध विस्मृत हो जाता है" (गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृ० १३८)। यही कारण था कि भारतीय रस-सिद्धान्त में सार्वभौमिक कला-सिद्धान्त बनने की अपूर्व क्षमता है। वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति में परोक्ष या दिव्य का दर्शन होता है। इस विषय में वह नैतिक एवं धार्मिक अनुभूति की ही भाँति सम्पन्न होती है। कला का आनन्द ऐन्द्रिय न होकर मानसिक या आत्मिक होता है। इसीलिये सार्वभौमिक होता है।

सामान्य भाषा में सौन्दर्य को दर्शनीय, नयन-सुभग आदि माना जाता है नकि स्पर्शनीय, भोग्य, आदि। सौन्दर्य आँखें को छकाता है, तरसाता है। इसका अर्थ किसी की शारीरिक क्रिया को प्रेरित करना नहीं होता है, अपितु यह मन का सौन्दर्य-दर्शन से न अघाना है। सामाजिक संस्कृति के अन्तर्गत मूल वासना के दमन और उदात्तीकरण से ही सौन्दर्य-बोध और कला सृजन को प्रेरणा मिलती है। अतः सौन्दर्य- चेतनापेक्ष गुण है। सौन्दर्यशाली- रूपों में सौन्दर्य विधायक तत्व उनकी रचना में निहित रहते है। सौन्दर्य रूप की अभिव्यंजकता में ही सम्भव है। वस्तुतः रूप प्रतीति पर निर्भर करता है और वस्तु-जगत् तथा स्वप्न-जगत् दोनों में ही रूप प्रतिभासित हो सकते हैं। अतः रूप मन का अन्तः

साक्षात्कार या आत्मा में डूबी हुई प्रतीति है। कलात्मक रुपगत मूल्य और विषयवस्तुभूत मूल्यानुभुति दोनों एक ही द्विदल अनुभूति में अपृथक रुप से अन्तर्भूत होते हैं और प्रत्येक दल मे बोध-भाव और विवेक दोनों आयामों में परिगृहील होता है। रुप-रचना अथवा शिल्प के सौष्ठव की अनुभूति चमत्कार कही जा सकती है, जीवन-मूल्य अथवा सत्य की कल्पनात्मक अनुभूति भाव-साक्षात्कार या रस कही जा सकती ह' (गोविन्द चन्द्र पाण्डेय : पृ० १९८)।

साहित्य समकालीन या परम्परित समस्त कलाओं की सर्वोत्तम या चरम स्थिति हैं। मूल्यों की सश्लिष्ट रचना होने पर भी साहित्य एक प्रकार की कला ह। यदि कला रुपात्मक सृजन है तो काव्य मे भी शब्द के माध्यम से सौन्दर्य की रचना होती है। अर्थ और भाव से पूर्णशब्द से ही काव्य का सृजन होता है। काव्य की अभिव्यक्ति में दो तत्व काम करते हैं—एक नाद तत्व और दूसरा चित्र तत्व। इसी के साथ मानव-जीवन के समस्त मूल्यो का विकास दिखाई देता है जो किसी न किसी रूप मे अन्य कलाओं में दिखाई देता है। प्रत्येक कला का आपसी प्रभावगत संक्रमण भी होता चलता है।

भक्ति कालीन कृष्ण-भक्तों का सौन्दर्य के प्रति विशेष आग्रह था। सौन्दर्य का चरम रुप कृष्ण-राधा और गोपियों में पुष्ट हुआ है। अलौकिक और लौकिक लीला के साथ परम सौन्दर्य को मानव की आकृति में ढालकर इन भक्तों ने मानव-सौन्दर्य की गरिमा प्रतिष्ठित की। मानव के रुप में परम सौन्दर्य को प्रकृति में समाविष्ट करके इन भक्तों ने उसे ब्रजभूमि पर उतार दिया था। किलकते हुए बच्चे में जो स्वाभाविक सौन्दर्य इन कवियों को दिखाई दिया वह बाल-मनोविज्ञान की स्वाभाविक मनोभूमि पर अवतरित हुआ। यह युग की मूल्यात्मक माँग थी। बालककी सहजता में जन को विशेषकर स्त्री को उससे जोड़कर उसकी महत्ता को प्रतिष्ठित किया गया। इस सौन्दर्य चित्रण के साथ युगीन क्रम में सुखानुभूति यशोदा के माध्यम से रचनाकार और प्रमाता तक सम्प्रेषित होती है। एक माँ के रुप मे कृष्ण के सौन्दर्य का आस्वादन साधारणीकृत होकर आता है। चूँकि वह बालक ईश्वर भी है अतः समस्त युग के क्रम में भी उसके सौन्दर्य का सामान्यीकरण हो जाता है। इस क्रम मे रचनाकार रचना और आस्वादन के क्रम में उस सौन्दर्य का केन्द्रविन्दु अपने को बनाता है, क्योंकि कवि की दृष्टि उस युग की सामूहिक दृष्टि है। अलौकिक रस की निष्पत्ति लौकिक जीवन की

अभिव्यंजनात्मक परिधि में होती है। इस बोध का मूल चेतनात्मक कलेवर पाकर आनन्दानुभूति की चीज बन जाता है। सामाजिक स्तर पर प्रेम को जीवन की गतिशीलता में ग्रहण कर लेने की अपनी युगीन अपेक्षा को इन भक्त कवियों ने प्रीति और आकर्षण की भूमिका में ग्रहण किया। यहाँ भी ऐन्द्रिय सौन्दर्य चित्रण ऐन्द्रियता को अश्लील अथवा ग्रहण नहीं किया जाता है। इस अभिव्यंजन में दैहिक प्रेम को उदात्त और स्वाभाविक के रूप में प्रस्तुत किया गया है. यह क्रान्तिकारी समाज की अपनी अपेक्षा थी। प्रेम को मूल्य-रूप में स्वीकार कर लेने पर जीवन्त व्यक्ति की हर प्रेम परक घटना उसकी सौन्दर्यानुभूति या सुखानुभूति की प्रेरणा बन कर आती है। ......

ग्वालिन तै मेरी गेंद चुराई।
खेलत गेंद गिरी तेरे अगना, अँगियन बीच छिपाई।
बहियां पकड़ अँगिया में खोजत, एक गई, दोय पाई।
तब मुसकाय ग्वालिनी बोलत, काहे को करत ढिठाई।
नन्द सखी भज बालकृष्ण छवि, चरन कमल चित लाई।

- नंदसखी, पद-२६।

कितना मासूमियत और बचपने के साथ नारी के उरोजों का आस्वादन किया गया है। अबोध बनकर उस सौन्दर्य के आकर्षण को स्वाद तक पहुँचाने की कोशिश की गयी। सब कुछ सामाजिक मान्यता में हुआ है बलात नहीं। यह मात्र अबोधपन नहीं है। यह तो ज्ञात ढिठाई है। जिसकी प्रसन्नता पूर्ण स्वीकृति है। इस प्रीति और आकर्षण की भूमिका में मानव-मन की स्वाभाविक व्यंजना हुई है जिसके द्वारा एक की जगह दो का लाभ प्राप्त करने की बात उजागर हुई है। यहाँ रचनाकार ने कला के माध्यम से सामाजिक स्वच्छन्दता को मूल्यात्मक सन्दर्भ दिया है। परम सौन्दर्य की अभिव्यंजना में लोक-सौन्दर्य तक आना है और लोक-सौन्दर्य को परम सौन्दर्य की भूमिका देनी है। इसी के साथ भक्ति को प्रेम और प्रेम को भक्ति का स्वरुप देते हुए उस लौकिक सौन्दर्य को ही साध्य और साधन दोनों बना दिया गया है। कृष्ण भक्तों का सारा सौन्दर्य सृजन बालक, नारी, युवक और माँ तथा सखा आदि के मानव-मनोविज्ञान की सहजता के स्तर पर हुआ है। इसीलिये धर्म-चेतना को मूल मानने वाले को ब्रह्मानन्द-रस दीखता है और लौकिक चेतना के सन्दर्भ में देखने वाले को सुखात्मक रस की प्रतीति होती है।

कृष्ण भक्तो ने सौन्दय के जिस वस्तु स्थिति का आश्रय लिया है उसमें मानसिक सौन्दर्य-दर्शन का समावेश है जो हर समय शारीरिक क्रिया के साथ हर प्रेरणा में दर्शक को कभी अधाने नही देता है। नित्य लीला की प्रक्रिया इसी की भूमिका ह। कृष्ण भक्तों ने कृष्ण के आधार पर जिस काल्पनिक जगत् की रचना की है वह वस्तु जगत् को ही रुप देने के क्रम में सृजित हुआ है। इस वात की ओर सामाजिक आदि मूल्यों के क्रम में संकेत किया जा चुका है। इस क्रम मे अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति मे रुपगत-मूल्य और वस्तु-जगत् के अपेक्षित मूल्यों में समन्वय हे। कृष्ण-काव्य की कलात्मकता में सामाजिक जीवन की यथार्थ स्वाभाविकता का आग्रह वरावर रहा है। यही कारण है कि उसमे ऐन्द्रियता को इन्कार नही किया गया है। यद्यपि इन भक्तो की सौन्दर्य दृष्टि भावनिष्ठ रही है।

कृष्ण-काव्य में कलात्मक व्यंजना कल्पना पर आधारित होते हुए भी सामाजिक और जाति परक रही है जिसमें यथार्थ की अपेक्षा ही व्यजित हुई है। आध्यात्मिक खेमे में से देखने पर वह व्यक्तिपरक भले ही लगे किन्तु रचनात्मक सन्दर्भ में वह तत्कालीन जन-जीवन की अपेक्षित दृष्टि का ही प्रतिनिधित्व करती है। जिसका प्रत्यक्ष रुप रीतिकाल में व्यजित हुआ है। अनुभूतिक अभिव्यक्ति को ठोस जीवन के धरातल पर रखकर ही कृष्ण-भक्तों की सौन्दर्य दृष्टि का निर्धारण किया जा सकता है। सूरदास ने राधा और रुक्मिणी के स्नेह पूर्ण मिलन के दौरान जो काव्य चित्र खड़ा किया है वह दो सौतों के बीच सौहार्द स्थापित करने की सामाजिक अपेक्षा में व्यंजित हुआ है। भले ही वे प्रभु की पत्नियाँ हो किन्तु हैं तो एक पति की दो पत्नियाँ। सूरदास के प्रभु समाज के प्रभु और मानव के प्रतिनिधि है।

रुकमिनि राधा ऐसे भेंटी।
जसे बहुत दिननि की बिछुरी, एक बाप की बेटी।।
एक सुभाय एक वय दोऊ, दोऊ हरि की प्यारी।
एक प्राण मन एक दुहुनि को, तन करि दीसति प्यारी।।
निज मन्दिर लै गई रुकमिनी, पहुनाई विधि ठानी।।
सूरदास तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी।। सूरसागर, पद—४९०९।

दो सुन्दरियों का प्रगाढ़ मिलन कवि के सामाजिक मन को तरसा दिया। स्वभाव,

[illegible] और स्वामी होने की भूमिका में वे [illegible] रहा है। यहीं नहीं प्रभु के साथ [illegible] अभिव्यक्ति भी [illegible] प्रस्तुत है। उन्मादन की स्थिति में अहंकार मुक्त होकर ही [illegible] को [illegible] सौन्दर्य [illegible] कर दिया गया है।

कला में रूप और अरूप का द्वन्द्व हमेशा रहा है। कृष्ण भक्तों की कलात्मक अभिव्यक्ति को लेकर हमेशा द्वन्द्व रहा है। वह नितान्त काल्पनिक और आध्यात्मिक था या लौकिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में ही रूप ग्रहण कर सका है।

> स्याम कामवश चोली खोलत, आतुर निधि के भोरे।
> काछी छांड़ि करत परिरम्भन, कुन्दन देत निहोरे।
> सैननि बरजति पियहिं किसोरी दे कुच कोर अकोरें। हरिराम व्यास, पृ २८०।

यह सारा बिम्ब एक साथ लौकिक और अलौकिक अर्थ को संश्लिष्ट रूप से समेटे हुए है। वस्तु जगत् की निरपेक्षता में इसका अस्तित्व ही नहीं है। स्याम यदि कोई भी नायक मान लिये जांय तो नायिका का यौवन अपने हाव-भाव में पूर्णतः सामाजिक भूमिका लेकर सामने खड़ा है। परब्रह्म के पास न चोली होगी न उरोज ही होंगे फिर उसके कोर तक पहुंचने का सवाल ही नहीं है. चोली और उरोज की रचना के कारण नारी सामाजिक परतन्त्रता में नहीं बंध सकती और अपनी रचना के माध्यम से वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को कुण्ठित भी नहीं करेगी। यह तो सौन्दर्याभिव्यक्ति में जीवन की ही अभिव्यक्ति है। युगानुकूल यह शृंगारी चित्रण भी बदला था। सिद्धसाधना के समय की भोगात्मक ऐन्द्रियता मानवीय सौन्दर्य और अनुभूति के स्तर पर प्रतिपादित हुई है फिर भी सम्भोग को इन्कार नहीं किया गया है। साहित्य लहरी के एकपद में सूर की चिन्ता व्यक्त है। बड़े चमत्कारिक ढंग से बात को कवि ने प्रस्तुत किया है।

> फल सूचक का कहि के जायें।
> जो जहूँ विपत्ति परी तन ऊपर, सो का कहि समुझायें॥
> दधि सुत रिपु भख सुत सुभाव पे इत उन मोहिं बताई॥
>
> —साहित्य लहरी—प्रभुदयाल मीतल, पद, ६२।

यहाँ नायिका के सखी द्वारा प्रियतम ने बुलाया है। लेकिन उसे दुःख है कि वह मासिक-धर्म से पीड़ित है। नायिका की वेदना तक कवि पहुँचता है तो

प्रियतम से रमण न कर पाने के कष्ट को भी छोड़ नहीं सका है। सब कुछ कसक और संकोच की सीमा में व्यजित हुआ है। निश्चय ही मूर्त विषय वस्तु का अमूर्तीकिरण किया गया है, साथ ही नारी पुरुष सयोग की सामाजिक स्वाभाविकता का भी निदर्शन हुआ है। निश्चय ही इन कलाकारों ने अपने भीतर के सत्य को सृजनात्मक रुप दिया है जिसको आध्यात्मिकता में प्रस्तुत करने का आदर्शवादी प्रयोग भी किया है। अपनी लौकिक शृंगार की अभिव्यंजना में भी इन कृष्ण-भक्तों के सौन्दर्य-बोध में शुद्धता है क्योंकि इनका आग्रह सामाजिक रहा है और उससे भी आगे पवित्र आध्यात्मिक। इसी कारण कृष्ण-भक्तों के साहित्य में भक्ति और शृंगार का सश्लिष्ट निरुपण हुआ है जिसमें किसी को श्लेष और अन्योक्ति के रुप में ही नहीं जाना जा सकता है। बस नजर के साथ ही दोनों की अस्मिता है। यथार्थ की सत्यता मे कहा जाय तो उसमें लौकिक शृंगारिकता एव लौकिकता ही है।

कृष्ण भक्तों ने पुरुष और नारी के सौन्दर्य को वय-क्रम में बड़ी सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिकता के आधार पर प्रस्तुत किया है। काफी वैविध्य इस सौन्दर्य निरुपण मे दिखाई देता है। जीवन का भरसक कोई भी अंग उसके वर्णन से छूटने नहीं पाया है। नारी का समग्र सौन्दर्य चित्रण उसके बिविध भावानुभाव के साथ राधा और गोपियों के माध्यम से व्यंजित हुआ है जो एक सुन्दर किन्तु सामाजिक स्वच्छन्दता से पूर्ण नारी का यथार्थ चित्र ही जान पड़ता है। सब कुछ मानव-सौन्दर्य की भूमि पर ही व्यजित हुआ है। इसी पूरी दैहिक सौन्दर्य की भूमिका में प्रकृति को भी छोड़ा नही गया है। बन, निकुंज, नदी, पुष्प, बर्षा आदि का आनुषागिक चित्रण कृष्ण-भक्तों के काव्य में मिलता है।

कृष्ण भक्तों की सौन्दर्य-चेतना मे ऐन्द्रियता है। अनेक स्थल ऐसे आये हैं जहाँ इन्द्रियता को सीधे-सीधे स्वीकार किया गया है। 'कृष्ण-भक्ति काव्य मे इन्द्रिय जगत की समृद्धि द्रष्टव्य हैं वहाँ न सन्तों की निराकार बौद्धिकता को प्रश्रय दिया गया है, न सूफियों की प्रतीकात्मक व्यंजना को। जो कुछ अगम्य है, अगोचर है उसे कला की रेखाओं और रंगो में सँवार कर, इन्द्रियों के प्रदेश में उतार कर चित्त के सम्मुख उपस्थित किया गया है। भक्ति कालीन कृष्ण-काव्य ने परम सौन्दर्य को ऐन्द्रिय धरातल पर पकड़ा है" (मीरा श्रीवास्तव कृष्ण काव्य में सौन्दर्यबोध और एवं रसानुभूति, पृ० ४)। जन-जीवन के यथार्थ को उसके

जिस में कुशलता ही थी इन भक्तों की ——— भोग ही [illegible] इन नियम के साथ अपने भक्तों के लिए [illegible] कृष्ण [illegible] गये थे। इस सामाजिक भूमिका में नायिका को [illegible] बाहु पकड़ कर [illegible] प्रेम का [illegible] आरम्भ है। वही कौतुक और मुस्कान [illegible] के साथ अपने [illegible] सौन्दर्य को [illegible] अभिव्यक्ति में रसमग्न [illegible] के लिए [illegible] पहुँचा दी है। कितनी सुन्दर है मानिनी नायिका [illegible] के अधीनता में अपार आनन्द को खो देती है। समाज में यही तो होता है [illegible] अनाधिकार में समाज अपने मौलिक अधिकारों से वंचित रहता है.

अब यौं कर [illegible] कंचन ज्यों, अंकुश आज धरै;
आलिंगन दै अधरपान करि खंजन काज लरै।
हठ करि मानकियो अब भामिनी तब गहि बाहु धरै।
पुहुप मंजरी मुकनि माला अंग अनुराग धरै,
रचना सूर रची वृन्दावन आनन्द काज करै।

—सूरसागर दशम स्कन्ध।

सौन्दर्य और अधिकार को अति सुन्दरता के साथ उस चरम लक्ष्य तक पहुँचाना ही तो इन भक्तों का प्रयास रहा है। इस क्रम में आभूषण से लेकर हर मानवीय आवश्यकता की ओर भी संकेत किया गया है अतः कृष्ण कवियों की स्त्रियाँ और कृष्ण हमेशा आभूषण से भी सुसज्जित रहते हैं।

कृष्ण काव्य में सौन्दर्य का आधार धरातल समग्र जीवन के साथ अलौकिक जीवन भी है जो लोकोन्मुखी हो गया है। नारी और पुरुष के नखशिख वर्णन से लेकर प्रकृति में भी सौन्दर्याभिव्यक्ति हुई है। केवल संयोग में ही नहीं वियोग की अभिव्यंजना में भी अनुभूति की तीव्रता है और तीखी पीड़ा में सौन्दर्य का अनुभूतिक चर्वण वहाँ भी हुआ है। प्रेम करते समय ही सौन्दर्य की अभिव्यंजना हुई हो ऐसा नहीं। भोजन करते समय, स्नान करते समय और तेल लगाते समय, पलने पर झूलते समय भी मन सौन्दर्य की व्यंजना से निहाल हो जाता है। दैनिक, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की कार्य-प्रणाली में भी आजीब सौन्दर्य इन कृष्ण भक्तों ने व्यंजित किया है।

कृष्ण-काव्य तो कलात्मक विशेषतः चित्रात्मकता ही है। ये कवि अपनी

नाषिक अभिव्यक्ति में सजीव चित्र खड़ा कर देते हैं पर सारा चित्र सहज लोक-जीवन की जीवन्तता के रुप में आँखों के सामने आते ही अपना प्रभाव छोड़ जाता है। ये सारे चित्र यथार्थ की भाव-भूमि पर बड़े कोमल रुप से उतरते हैं और सहज जीवन की छाप छोड़ जाते हैं पर कितना सजीव चित्र है कि माता यशोदा कृष्ण को सुलाने का प्रयास कर रही हैं। एक उदार माँ की भाँति यशोदा को भी लौकिक सुख के कारण अलौकिक सुख मिल रहा है। ..

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराई मल्हावै, जोई-सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आवनिदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं बेगहि आवै, तो को कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै के रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाई उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभसो नन्द भामिनी पावै। सूरसागर पद, ६६१।

निश्चय ही वात्सल्य की अपरिमित और वास्तविक मातृत्व के स्तर पर यह लौकिक सुख का ही अलोकिकीकरण है।

स्थूल दैहिक रचना से लेकर सूक्ष्म मानसिक चेतना और रुप की अभिव्यंजना चित्रात्मक स्तर पर कृष्ण-काव्य में प्रस्तुत हुई है जो लोक-जीवन की वास्तविक सुन्दरता को लेकर अनुभूति मे बिम्बित होती है। इसमें लौकिकता भी है और चाहे तो अलौकिकता भी देखें किन्तु लोक का चरम अपेक्षित सौन्दर्य अपने युग के मूल्यात्मक सन्दर्भ में व्यंजित हुआ है। जहाँ विषय वस्तुगत मूल्य और रुपगत सौन्दर्य दोनों अभिन्न रुप में वर्तमान हैं। लोक जीवन में ही इन कृष्ण भक्तों का सौन्दर्य बोध प्रमाणित होता है। लोक जीवन के दैनन्दिनीय यथार्थ को लोक की भावभूमि से उठाकर उदात्तता दी गयी है। यह सारी व्यंजना पुनः तरल होकर लोक में ही लौटा दी जाती है-बस मूल्य बन जाने के लिये, युग की अपेक्षा बन जाने के लिये, सांस्कारिक रूढि की पट्टी बँधी आँखों को खोल देने के लिये। यही नही युगीन जीवन को गति देने के लिये उसे

भक्ति के विकास की परम्परा में : धार्मिक साधना का मानववादो आधार।

बाह्य विश्व और मानवीय बुद्धि या चेतना की अन्तः सम्बद्धता के कारण बौद्धिक समझ की स्थिति विकसित हुई इसी के साथ, वस्तु जगत् के प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान के द्वारा ज्ञान का गुणात्मक विकास हुआ। नैतिक मीमासा, तत्व मीमासा एवं ब्रह्म मीमांसा के साथ बौद्धिक प्रक्रिया का विकास हुआ। इस विकास की गति मे, मानव चेतना ने, आत्मिक जीवन में प्रसार एव उत्कर्ष किया। मनुष्य की बुद्धि अपनी शक्ति की पहचान के साथ, वस्तु जगत् के बाह्य और आन्तरिक अनुभव की ओर प्रवृत्त हुई। मनुष्य इस सृष्टि में अपना विभिन्न आयामों में मूल्य निर्धारित करता रहा और इसी विकास-क्रम मे धार्मिक और दार्शनिक होता है। धर्म के कारण वह जीवन और जीवन के साथ जुड़ी चरम शक्ति के प्रति पूज्यता का भाव रख सका और दर्शन के कारण नये जीवन मूल्यों को अन्वेषित करता रहा। इस पूरी प्रविधि मे उसने आत्मा और परमात्मा के मूल्य को निधारित किया। भौतिक जगत् से परे शाश्वत सत्य को देखने और लक्ष्य मानने के साथ आदिममानव ने जीवन को लौकिक सन्दर्भ में स्वीकार किया। इस रुप में वह पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर उन्मुख रहा। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ वह दार्शनिक मतवादों में बदलता रहा। फलतः भारतीय जन-जीवम बुद्धिवादी, भोगवादी और मुक्तिवादी रहा है। ईश्वर की पूर्णता के साथ मनुष्य का अस्तित्व माना जाना अपेक्षित रहा। आध्यात्मिक कल्पना या दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से जिन मूल्यों का अन्वेषण हुआ वे मानव के विवेक-सम्पन्न लक्ष्य थे। पूरी प्रविधि में मनुष्य बौद्धिक व्यापार से ज्यादा विवेक को महत्त्व देता है। इस प्रकार धार्मिक साधना के भीतर मनुष्य ने जीवन में मूल्यों की स्थापना के साथ अपने को ज्ञान और कर्म की ओर उन्मुख किया। इन मूल्यों के आग्रह के कारण ही धर्म में काम का विरोध हुआ किन्तु वह

पूर्णतः अलग नहीं था । [illegible] में सम्पन्न और सफल जीवन को महत्व दिया गया, जिस कारण धर्म अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ माने गये। मनुष्य की बुद्धि ने एक ओर मनुष्य को धर्म और अध्यात्म के माध्यम से रहस्यवाद की ओर मोड़ा तो दूसरी ओर जीवन की सुविधा के लिये प्रचुर मात्रा में साधन भी इकट्ठा किया।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन के द्वारा व्यक्तित्व के पूर्णतम विकास की कुछ जीवन-मूल्यों को समाहित करने के लिये एक अलौकिक एवं अतिमानवीय सत्ता की ढूंढ निकाला गया जो चरम और आदर्श मूल्यों का संग्राहक बना, जिसमें समस्त मानव-मूल्य चरम सांस्कृतिक मूल्यों को विज्ञापित करता हुआ मानव-जीवन के लिये आदर्श भी बना। अवतारवाद इसका प्रमुख उदाहरण है। निर्गुण एवं ब्रह्म मीमांसा ज्ञान के स्तर पर आध्यात्मिक सत्ता के रूप में दार्शनिक चिन्तन का आधार मात्र था, किन्तु सगुणावस्था तक पहुँचकर आधार और आदर्श दोनों बन गया। जीवन और जगत् का संघर्ष जिस रूप में मानव-मस्तिष्क पर प्रभावक हुआ, उसी के आधार पर मनुष्य ने पूरे विश्व की व्याख्या प्रस्तुत की और उसी अतिमानवीय मूल्यों के सहारे बाँधना चाहा।

भारतीय धर्म और दर्शन में आध्यात्म और रहस्यवाद का विशेष महत्त्व था। ऋग्वेद काल में कृषि की महत्ता थी। लौकिक जीवन को शक्तिशाली तथा समृद्ध करने के लिये देवताओं की कल्पना की गई। धर्म को कर्मकाण्ड और यज्ञों के साथ बाँधा गया। यज्ञ में पत्नी का महत्त्व स्थापित हुआ। इस काल में जिन देवताओं की उपासना की गई उनका जीवन की महत्त्वपूर्ण जरूरतों से घना सम्बन्ध था। इस काल के दो सबसे महत्त्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण समझे जाते हैं। इन्द्र बल तथा शक्ति के अधिष्ठाता हैं और वरुण मुख्यतः नैतिक व्यवस्था के संरक्षक हैं। इन्द्र कृषि के लिये उपयोगी थे क्योंकि वे बादलों तथा वर्षा के स्वामी थे। इसके साथ लौकिक मूल्यों की स्थापना हुई और उस काल का मनुष्य सर्जनात्मकता में प्रवृत्त हुआ। उसका इन्द्र धीरोदात्त, साहसी और पराक्रम का चरम रूप था। उस समय कष्टसाध्य परिस्थिति में कृषि की उन्नति करने में वैदिक मनुष्य अपने देवता से शक्ति ग्रहण करता रहा है। जीवन को मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया तथा ज्ञान और कर्म की साधना के साथ जोड़ा गया। जीने की अभीप्सा प्रचुर थी। इस जीवन दर्शन का प्रभाव

उस काल की रचना पर भी पड़ा उस काल में मूल्य आनन्दगामी सृजनात्मकता के रुप में था। इसीसे उसे दिव्य प्रेरणा मिलती थी। सोमरस उसके इसी आनन्द का प्रतीक है। वह संसार और भौतिक जगत् मे देखने का ही अभ्यासी था। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति की भौतिक शक्तियों पर अधिकार बढ़ता गया वैसे-वैसे उसके उपास्य देवताओं की प्रकृति बदलती गयी। अब वह अपने देवताओं में अधिक सूक्ष्म, आध्यात्मिक विशेषताओं का आरोप करने लगा। इसका कारण यह था कि मनुष्य को प्रकृति पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि करना ज्यादा कठिन जान पड़ता था। उपनिषद् काल में सूक्ष्म चिन्तन बढ़ा और ब्रह्म की कल्पना हुई। ज्ञान का सात्विक मूल्य प्रस्तुत हुआ। ज्ञान के द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को चरम मूल्य घोषित किया गया। अविद्या परिहार के द्वारा मुक्ति की बात उठाई गई। ब्रह्म एव जीव के ब्रह्मभेद को नित्य सिद्ध माना गया। ज्ञान के साथ निष्काम सुख को आनन्द माना गया। शिक्षा-क्षेत्र का विकास हुआ। चेतना बदली और सत् की अभीप्सता के लिये चिन्तन का क्षेत्र खुला। जीवन की एषणीयता पर प्रश्न चिह्न लगाया गया। जीवन को सत् माना जाय या उस अलौकिक सत् को: जिसका सूत्रपात उपनिषदों में हुआ। चार्वाक् आदि ने इसके सामानान्तर जीवन भोग को सत् माना और भोग को इस जीवन में यही मूल्य माना। इस दर्शन का प्रभाव लोक में बराबर चेतना की भूमि तैयार करता रहा। धीरे-धीरे ब्रह्म काव्य के प्रतीक नहीं रहे। सरस्वती नारी के तमाम सद्भावों के साथ काव्य की देवी रुप में सामने आती हैं। शैव दर्शन पर भी भोगवादी दृष्टि का प्रभाव पड़ा और जीवन की तमाम विभीषिकाओं के बीच शिव की कल्पना की गयी। नाटकों की तरह इसमे भी जीवन की तमाम विरोधी भावनाओं का समाहार हुआ। यथार्थ जीवन की विभीषिकाओं का प्रतीकात्मक समाहार शिव में हुआ। नारी उनकी शक्ति हुई। उसके बिना शिव को शव करार दिया गया। समाज में मानवजीवन की जीवन्तता के लिये नारी की महत्ता प्रतिपादित हुई। उधर ब्राह्मण धर्म में भी नारी और भोग का प्रभाव पड़ा। आगे समय की अपेक्षा के अनुसार शैव धर्म में भी विभाजन और परिवर्तन होता गया। ब्राह्मण धर्म और सामन्ती संस्कारों के क्रम में बौद्धधर्म की क्रान्ति होती है।

बौद्ध धर्म में पहुँच कर जीवन-दृष्टि और आध्यात्मिक धारणा बदली। जीवन को दुःख तथा भोग और ऐन्द्रिय सुख को अनर्थ माना गया। इन

दुःखों से छुटकारा पाना ही मूल लक्ष्य हो गया। जिसे निर्वाण की संज्ञा दी गई। निर्वाण और कैवल्य में अद्भुत साम्य हुआ। संसार के दुःख का कारण माना गया। प्रतीत्यसमुत्पाद का बोध हुआ। दुःख का कारण खोजते हुए यह धार्मिक आन्दोलन इस सिद्धांत से जुड़ा और संसार को दुःख स्वरूप में देखा किन्तु निवारण की बात को लेकर पुनः आशावादी हुआ। निर्वाण के लिये बोधि को आवश्यक माना गया। वैराग्य और भावना वहीं से जड़ पकड़ने लगी। बाद में इस धर्म में भी बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया। इस दुःखवादी या क्षयवादी दार्शनिक चिन्ता का प्रभाव साहित्य-सर्जना पर पड़ा और लोग बड़ी संख्या मे भिक्षु और श्रमण बनने लगे। संघ में स्त्रियों को प्रवेश मिलने के साथ भिक्षुणियों की संख्या भी बढ़ी। धर्म में स्त्रियों और शूद्रों का निर्बाध प्रवेश इस धर्म की क्रान्तिकारी सामाजिक भूमिका हुई। बौद्धों ने शून्यवाद एवं विज्ञानवाद की दार्शनिक मान्यता स्वीकार की। ये उनके तत्व-चिन्तन के आधार थे। इसका प्रभाव अत्यन्त दुःखवादी होने के कारण लोक से दूर रहा। अतः इस धर्म को लोकमत की ओर खींचने का प्रयास बराबर चलता रहा।

वैदिक, वेदान्ती, चार्वाकी तथा लोकायत दर्शन तथा भारतीय योग दर्शन और बौद्ध-जैन दर्शन समय के साथ परिमार्जित होते हुए कुछ छोड़ते, कुछ जोड़ते चले आ रहे थे और उन दर्शनों का प्रभाव तत्कालीन रचनाओं पर पड़ रहा था। बौद्ध धर्म की दुःखवादी विचारधारा पर दबाव बढ़ता जा रहा था। उसे लोकमत और लोक-रुचि में बाँधने का प्रयास हीनयान और महायान के विभाजन काल से ही प्रारम्भ हो जाता है। वज्रयानी सिद्धों तक पहुँचकर बौद्ध-धर्म में भोगवादी दृष्टि को स्वीकार कर लिया गया। ऐन्द्रिय सुख को महा सुख माना गया और उसे ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ माना गया। इस समय की समृद्धि ने भोग को प्रेरित किया। उन्होंने अपने दर्शन में स्त्रीभोग को महत्त्व दिया। योगिनी और डाकिनी द्वारा सहज समाधि प्राप्त होती थी। उनका इन्द्रिय सुख के प्रति आग्रह बढ़ा। पाँच इन्द्रियों के साथ मन को छठी इन्द्रिय माना गया। आत्मा और परम तत्व की अद्वैतता स्वीकार की गयी। सिद्धों ने देह का महत्त्व केवल शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से नहीं किया था। इसके पीछे एक गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य था। इसीलिये ही वज्रतन्त्र में महासुख को देह में स्थित बताया गया किन्तु देहज नहीं। आलींगनादि कर्मों को स्वीकार किया गया किन्तु लुब्ध, आसक्त और विषयी मन से स्वीकार करने की सलाह नहीं थी। आसक्ति

भाव से ये भोग सिद्धि में बाधक होते हैं। इस प्रकार वे प्रवृत्तिमूलक सहज को स्वीकार करते हैं। मानवीयता का निषेध न करके उसे अपनी सीमा में स्वीकार करते है। इस भोगवादी दृष्टि के साथ आध्यात्मिकता का आग्रह था। स्त्री और शूद्रों को सर्वोच्च स्थान देने के साथ जनजीवन को मूल्य के स्तर पर पहुँचाया गया। इसके साथ लोक-जीवन के तन्त्र-मन्त्र तथा जादू, टोटके का प्रचार-प्रसार हुआ। अतः लोक-जीवन पूर्णतः प्रतिष्ठित हुआ।

इसके साथ भारतीय धर्म मे सबसे विशाल चेतना का निदर्शन राम और कृष्ण के अवतारों के साथ होता है जिसपर सम्पूर्ण रुप से समस्त चेतनाओं का युगीन प्रभाव रहा है। इन्ही के साथ वैष्णव भक्ति का भी सम्बन्ध अन्त तक बना रहा। मनुष्य ने, अपने लौकिक चिन्तन मे ही पारलौकिक चिन्तन को समेटा और ईश्वर या अतिमानवीय शक्ति को पाकर उसे अवतार के रुप में युगीन सन्दर्भों मे सांस्कृतिक मूल्यों के चरम साध्य के रुप में देखा। मनुष्य, जब चरम मूल्यो को अपने जीवन मे प्राप्त न कर सका तो उसने एक ऐसे ईश्वरीय शक्ति की कल्पना की, जो समस्त नैतिक एवं सास्कृतिक मूल्यों का विषयी बना और मनुष्य ने सन्तोष की सॉस ली। विभिन्न अवतार अपने युग-सापेक्ष मूल्यों का अन्तिम और चरम बिन्दु है। युग-विभेद के साथ ही उसके सौन्दर्य तथा धारणा आदि मे परिवर्तन होता चला और मनुष्य सारे मूल्यों को सँजोकर उस कल्पित मूल्य में अपने को पर्यवसित कर देना चाहता रहा है। मनुष्य के रुप में ईश्वर को अवतार के साथ प्रस्तुत करना मनुष्य के प्रत्यय में मूल्यों की अवधारणा का उत्पन्न होना ही है। राम, कृष्ण, नृसिंह और बुद्ध अपनी अलौकिकता में भी अपने युगीन मूल्यों के आदर्श रुप रहे हैं। इन अवतारों मे युगीन सास्कृतिक एवं सौन्दर्य-दृष्टि का समावेश चरमावस्था में है। इन तमाम अवतारों की कल्पना एवं रुप का जो आपसी अन्तर रहा है, वह निश्चय ही युगीन अन्तराल और बदलते युग-बोध का परिणाम है। यही कारण है कि आध्यात्मिक अनुभूति को मनुष्य की सबसे ऊँची अनुभूति माना गया, क्योंकि इसने मनुष्य को जीवन के चरम मूल्यों से टिकाया। इस सन्दर्भ में, सम्पूर्ण अनुभूति मनुष्य की अपनी अनुभूति होती है। अतः आध्यात्मिक आस्था मनुष्य की अनुभूतिक परिधि का अतिक्रमण नही कर सकती है। इतना तो माना ही जाता है कि कैसा भी ज्ञान हो उसे मानव-रुचियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है और न ही उसे मानव-जीवन की अर्थवत्ता तथा प्रयोजनों से अलग करके देखा

जा सकता है। मनुष्य कर्म मानने में आत्मिक व आध्यात्मिक प्रयोजनों से भी जुड़ना चाहता है। इस विशुद्ध प्रयोजन की अपेक्षाओं में ही उसकी सौन्दर्य-दृष्टि का विकास हुआ और उसने ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा के साथ ईश्वर को अवतार दिया। इसके लिये उसे प्रत्यक्ष और अनुमान परक ज्ञान का सहारा लेना पड़ा। मनुष्य रूप में ईश्वर का अवतार उसकी नैतिक तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों के रूप में देखना उसका प्रत्यक्ष ज्ञान है तो कल्पना का यत्किंचित् समावेश अनुमानात्मक ज्ञान है।

मनुष्य हमेशा चाहता है कि वह और उसकी युग-चेतना इतिहास में बनी रहे और अपनी इस आकांक्षा में वह आध्यात्मिक चेतना से तालमेल करता है। अपनी वैयक्तिक समझ को भी छोड़ नहीं पाता। मनुष्य ने दर्शन के द्वारा जिन उच्च मूल्यों को पकड़ा उसका प्रयोग अध्यात्म की अवतारवादी निर्माण की प्रक्रिया में प्रस्तुत किया। भारतीय कर्मवादी दार्शनिक चेतना का प्रभाव यहाँ के आध्यात्मिक चेतना पर और जीवन की साधना में ज्ञान, कर्म और भक्ति के साथ पड़ा. यही कारण था कि भारतीय भक्ति भावना ने प्रेम और नैतिकता को आश्रय बनाकर पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था को स्वीकारा जिसका परिणाम समस्त मूल्यों की स्थापना में हुआ। मनुष्य को शुद्ध चित्त-वृत्तियों में समेटते, उसे सम्पूर्ण मूल्यों के प्रति सजग करते हुए शिवत्व और आनन्द की परिधि में खींच लेना ही भारतीय धर्मों का उद्देश्य रहा है।

वैष्णव भक्ति का इतिहास काफी प्राचीन है। नारदीय भक्ति सूत्र में इस भक्ति का विवेचन हुआ है। 'सा त्वस्मिन् परम प्रेम रुपा, अमृत स्वरुपा, यल्लब्ध्वापुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति' (साहित्य कोश, पृ० ५२४)। इसका तात्पर्य था कि भक्ति प्रेमरुपा है। मानवीय प्रेम के सापेक्ष ही भक्ति का अस्तित्व खड़ा हो रहा था, क्योंकि भक्ति के विकास में अनार्य तत्त्व ज्यादा था। सेवा और प्रेम का सच्चा प्रयोग तो अनार्य ही कर सकते थे। पराशर पुत्र व्यास ने पूजादि में अनुराग तथा गर्ग ने कथादि में अनुरक्ति को भक्ति माना है। किसी ने भी अनुराग या प्रेम को अस्वीकार नहीं किया है। साधना के सभी साधनों में प्रेम स्वरुपा होने के कारण भक्ति ही सहज साध्य मानी गयी है। भक्ति मार्ग भागवत सम्प्रदाय के रुप में लगभग १४०० ई० पू० में ही प्रतिष्ठित हो चुका था। इससे आगे भी भक्ति का अवैदिक देवताओं की निर्गुण उपासना के रूप में था

उपनिषद् के बाद महाभारत में भी परिशिष्ट भक्ति थी। [illegible] के सन्दर्भ में ही उसे स्वीकार किया गया था। ई० पू० चौथी शताब्दी में वासुदेव भक्ति का प्रचार प्रसार मिलता है क्योंकि पाणिनीय सूत्रों में 'वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्' का उल्लेख मिलता है। चूँकि पाणिनि का समय चौथी शताब्दी ई० पू० माना जाता है अतः इसके पूर्व वासुदेव भक्ति का विकास हो चुका होगा। इस भक्ति के साथ सगुण-भक्ति साधना का विकास हुआ क्योंकि भक्ति प्रेम मूलक व भाव मूला हुई। चूँकि प्रेम मानवीय प्रेम के सन्दर्भ में ही अस्तित्वग्रहण करता है, अतः आवश्यक था कि ईश्वर को भी मानव-देहधारी के रूप में अवतारी बनाया जाय। अतः प्रत्यक्ष नाम-रूपात्मक की उपासना का अस्तित्व प्रतिष्ठापित हुआ। श्रीकृष्ण के साथ ही वासुदेव भक्ति साधना का पल्लवन हुआ। कृष्णावतार से पूर्व इसको एकान्तिक, नारायण, पांचरात्र, सात्वत आदि नामों से जाना जाता था। श्रीकृष्ण के साथ ही यह धर्म भागवत् धर्म कहलाया। लगभग आठवीं शताब्दी तक यह भक्ति साधना उत्तर भारत से विकसित हुई और इसका प्रसार दक्षिण भारत तक हुआ। इसका विकास अब तक बराबर होता रहा।

इस भक्ति साधना के मूल में यह बात थी कि उसने वेद विधि और [illegible] की मर्यादा से भिन्न शुद्ध मानवीय प्रेम को स्वीकार किया। इस प्रकार एक प्रकार का भावात्मक संक्रमण भी प्रतिपादित हुआ। वस्तुतः पाँचरात्र संहिताओं को ही आधार बनाकर भागवत धर्म का विकास हुआ। भक्ति का विकास अवैदिक ही माना जा सकता है, क्योंकि "ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में पाँचरात्र पूजा-विधान वैदिक परम्परा के मन्दिरों में प्रचलित नहीं था : वहाँ वैखानस संहिताएँ ही मान्य थीं। रामानुजाचार्य ने वैखानस संहिताओं के पूजा विधान का विरोध करके दक्षिण के अधिकाश मन्दिरों में पाँचरात्र विधि की स्थापना की। इस प्रकार जिस पाँचरात्र परम्परा को अवैदिक कहा जाता था, वह भक्ति सम्प्रदायों में स्वीकृत हुई। एक प्रकार से वेद-विरोध का यह एक मृदु और व्यावहारिक रूप था" (सूर साहित्य नव मूल्याकन : चन्द्रभान रावत पृ० १६)। इसका अर्थ है व्यावहारिक स्तर पर ही भक्ति का लोकोन्मुखी स्वरूप साधना में प्रविष्ट हुआ। परम्परा की गतिहीन रुढ़ियों से जो मृदु विरोध अपनी व्यावहारिकता में शुरू हुआ था उसे ही भक्ति काल में आन्दोलन के लिये आधार बनाया गया।

आठवींशताब्दी में शंकराचार्य की अद्वैतवादी विचार-धारा के प्रचार-प्रसार के कारण भाव-मूला भक्ति-साधना को धक्का लगा। ज्ञान की स्थापना में शंकर ने

ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या के अद्वैतवादी दर्शन का प्रचार प्रसार किया जगत की आस्त्यता को स्वीकार करके शंकर ने लौकिक जीवन की भौतिकता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। इस अवस्था में वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना का उद्योग भी शंकर ने किया किन्तु सामाजिक विभेद पैदा करने वाली वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में मौन ही रहे। परिणाम यह हुआ कि प्रेम की यह आवश्यकता कि दो प्राणियों के बीच अस्तित्वपरक अन्तर्वर्ती [illegible] शंकर ने प्रेम मूला भक्ति को विच्छिन्न कर दिया। क्रमशः भक्ति का प्रचार-प्रसार शंकर के दार्शनिक विकास के साथ समाप्त सा हो गया। आलवार सन्तों ने फिर से द्वैतवादी दर्शन की स्थापना के साथ इस भक्ति साधना को विकसित किया। अब जीव और ब्रह्म में अन्तर होने के साथ ब्रह्म के सापेक्ष जीव का भी अस्तित्व प्रमाणित हुआ। यही नहीं दोनों का अस्तित्व अवतार के रूप में इसी जगत् में हुआ। इस काल में भागवत् धर्म के प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद् भागवत् की रचना हुई। भागवतकार ने भक्ति के विकास की ओर संकेत किया है।

> उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धि कर्नाटके गता। क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे
> गुर्जरे जीर्णतां गता।
>
> तत्र घोर कलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितांगिका। दुर्बलाहं चिरं जाता
> पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।
>
> वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी। जाताहं युवती
> सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।

(मैं द्रविण में पैदा हुई, कर्नाटक में बढ़ी, कभी-कभी माहराष्ट्र में मेरा पोषण हुआ, गुर्जर में जीर्ण हो गयी, वहाँ घोर कलि के कारण खण्डितांग हो गयी, दुर्बलता को प्राप्त हो पुत्रों सहित धीरे-धीरे वृन्दावन में आयी, जहाँ मैं सुन्दर रूप प्राप्त कर युवती हो गयी और उत्कृष्ट रूप वाली हूँ) —साहित्य कोश, भाग-१ पृ० ५२५। ध्यान देने की बात है कि अपने पुनर्जीवित रूप में भक्ति का विकास दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ। वृन्दावन ही केन्द्र हुआ जहाँ से कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन ब्रजभाषा काव्य के रूप में प्रवर्तित हुआ। युगलकिशोर की माधुर्य उपासना का आधार भी यही भक्ति का उत्कृष्टरूप वाली युवती का होना था।

भक्ति की साधना में लौकिकता का आग्रह था। अतः प्रेयस तत्व ही प्रधान बन कर आया। हम देखते हैं कि भारतवर्ष में श्रेयस और प्रेयस तत्वों का द्वन्द्व

बराबर चलता रहा है। कठोपनिषद्द में यमराज नचिकेता से कहता है कि इस संसार में श्रेष्ठ और प्रेष्ठ दो पदार्थ हैं अलौकिक जीवन की ओर उन्मुख होना ही श्रेय प्राप्त करना है क्योंकि अलौकिक जीवन ही श्रेष्ठ है किन्तु भौतिक जगत् की भोगविलास आदि से सम्बद्ध वस्तुएँ प्रेष्ठ कही जाती हैं। हे नचिकेता! ज्ञानी लोग श्रेष्ठ का वरण करते हैं और मूर्ख लोग प्रेष्ठ को स्वीकार करते हैं।

अन्यच्छ्रेयो न्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
ततो' श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेर्थाय उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ सम्परीत्य विनक्ति धीरः
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमाद्व वृणीते। २ ।

(यम '—कल्याण के साधन को ग्रहण करनेवाले पुरुष का कल्याण होता है और सासारिक भोगों में फँसने वाला मनुष्य सत्य लाभ से गिर जाता है क्योंकि कल्याण के साधन में और सासारिक भोगों के साधन में विभिन्नता है और यह दोनों ही पृथक्-पृथक् फल देनेवाले हैं -१-। कल्याण का साधन रुप श्रेय और भोग रुप प्रेय यह दोनों ही मनुष्य के आगे आते हैं, परन्तु मेधावी पुरुष उन दोनों के स्वरुपों का भले प्रकार मनन कर प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही श्रेष्ठ मानता है और अल्प बुद्धि मनुष्य सांसारिक भोगों को ग्रहण करना ही उचित समझता है। (कठोपनिषद्द द्वितीय बल्ली)। १०८ उपनिषद्द-ज्ञान खण्ड सं० श्रीराम शर्मा, से उध्दत।

प्रेष्ठ की उपनिषद्दकालीन धारणा धीरे-धीरे समाप्त हुई और उसे लौकिक जीवन के सगुणवादी चेतना के सन्दर्भ में मूल्य के रुप मे स्वीकार किया गया। नही तो, क्या कारण है कि भागवतकार ने भक्ति को श्रेष्ठरुपा न कह कर प्रेष्ठरुपा कहा। युवती और फिर प्रेष्ठरुपा भक्ति यदि आध्यात्मिक स्तर पर वरेण्य है तो निश्चय ही उसे लौकिक व्यवहार की अर्थवत्ता में ही स्वीकार किया गया है। फिर भक्ति साधना को लौकिक जीवन की व्यावहारिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का अच्छा अवसर मिला। सामाजिक स्वच्छन्दता के सन्दर्भ में प्रेम को भी सामाजिक स्वच्छन्दता प्रदान की गयी जिसका जीवन्त सृजनात्मक प्रयोग भक्ति कालीन कृष्ण भक्तों के काव्य में प्रस्तुत हुआ।

इस प्रेष्ठरुपा भावमूला भक्ति मे कृष्ण को केन्द्र बनाया गया। युगीन जीवन की अभिव्यक्ति के क्रममें कृष्ण आराध्य ही नहीं रह गये थे अपितु एक चरित्र के

रूप में निरन्तर विकसित होते रहे हैं। भक्तिकाल में आकर उनकी अभिव्यक्ति में जो जनवादी स्वरूप प्रदान किया गया उसमें चेतना के विकास का इतिहास छिपा हुआ है और उससे भी ज्यादा लोक का समावेश हुआ है। कृष्ण का चरित्र बड़ा ही विलक्षण रहा है। ऋग्वेद में कृष्ण स्तोता ऋषि के रूप में आते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् तक कृष्ण याज्ञिक कर्मों से जुड़े मिलते हैं। महाभारत में कृष्ण एक वीर, राजनीतिज्ञ के रूप में हमारे सामने आते हैं। लिखित और मौखिक रूप में कृष्णाख्यान पर विहंगम दृष्टि डालने से कृष्ण के तीन रूप हमारे सामने आते हैं—१ : योगी धर्मात्मा का रूप जिसकी गीता के कृष्ण में चरम परिणति मिलती है, २ : ललित मधुर गोपाल का रूप-संस्कृत साहित्य में जिसकी चरम परिणति श्रीमद्‌ भागवत्, पद्म और ब्रह्म वैवर्त पुराण में हुई है तथा ३ : वीर राजनयिक का रूप जो महाभारत और पुराणों में युद्ध के सन्धि विग्रह सम्बन्धी प्रसंगों में हुआ है (साहित्यकोश, भाग-१ पृ० २४०)। गीता के योगी धर्मात्मा कृष्ण अर्जुन के मार्फत मौलिक अधिकारों की प्राप्ति के सन्दर्भ में शरीर को नश्वर मानते हैं और आत्मा को—न हन्यते हन्यमाने शरीरे—अमर मानते हैं और शत्रु के विनाश को कर्तव्य बताते हैं। मानव का मौलिक अधिकार इस शरीर के साथ है। जब उसको छीना जाएगा उस समय अपने मौलिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति का हनन भी किया जाएगा। शरीर की अस्मिता का प्रश्न मौलिक अधिकारों के साथ प्रस्तुत करते हुए गीता के कृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं। धीरे-धीरे भक्ति और श्रृंगार के अनुपम योग के साथ श्रीकृष्ण का चरित्र लौकिक सहजता और युगीन मूल्यों की अपेक्षा में सृजित हुआ। इस प्रकार भारतीय धर्म और कृष्ण भक्ति तथा उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का मूल आधार मानववादी रहा है। धार्मिक भावावेश की चीज होने के कारण उसे बुद्धिवादी-भाववादी मानववाद की संज्ञा दी जा सकती है।

मानववाद एक दार्शनिक चिन्तन है। आजके यथार्थवादी युग में यह दार्शनिक चिन्तन का आधार बना और उसी के आधार पर प्राचीन चेतना का भी मूल्यांकन आवश्यक है। साहित्य मानववादी चिन्तन प्रक्रिया में वस्तु जगत् की सौन्दर्याभिव्यक्ति है। "मानववादी दृष्टि में साहित्य किसी अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द की वस्तु नहीं हो सकती, उसके लिये सौन्दर्यात्मक अनुभव प्रकृत वस्तु है। जिस प्रकार धार्मिक लौकिक उद्देश्यों के समन्वय द्वारा धार्मिक मानववाद का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार और मानव-कल्याण को

समन्वित करते हुए साहित्य को आधुनिक [illegible] से जोड़ने का प्रयत्न भी किया हुआ है. लेकिन मानववादी सकल्पना में मानवीय अर्थवत्ता ही साहित्य का प्रथम मूल्य-सौन्दर्यात्मक अनुभव का महत्व मानवीय अर्थ में मूल्यवान होनेपर है। मानववादी साहित्य चिन्तन की आधार भूमि है--मानव मूल्यों का आग्रह" (नवल किशोर : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, पृ० ९-१०).

आधुनिक चिन्तन के क्रम में यह माना जाता है कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि वह जीवन की चिन्ता जीवन की अर्थवत्ता के साथ करे। मूलतः यह इस अपार विश्व में मानव की स्थिति का ही बोध करना चाहता है। इस प्रकार दर्शन जीवन के भीतर से जीवन की दृष्टि ढूंढ निकालता है। यहाँतक पहुँचकर मनुष्य सार्थकता मे अपने जीवन की समस्याओं और विकल्प को ढूंढ निकालने का प्रयास करता है। इस प्रकार जीवन की सर्वोत्तम सम्भावना को ढूंढना ही दर्शन का कार्य है। इसी कारण दर्शन का व्यावहारिक जीवन से जुड़ना आवश्यक है। अपने समस्त सामाजिक जीवन के प्रति समग्र दृष्टि का सन्निवेश ही दर्शन का उद्देश्य है। यद्यपि शुरु से ही दर्शन मानवीय हितों से ही जुड़ा रहा है। यही नही इसी दार्शनिक चिन्तन के साथ मनुष्य सांस्कृतिक मूल्य (मूल्य-विश्व) की उपलब्धि में गतिशील रहा है। इस क्रम में भौतिक जीवन के विकास के साथ मानववादी दर्शन अग्रगामी रहा है। जीवन की और उसकी समस्याओं की ओर दार्शनिक चिन्तन को अग्रसरित करते हुए "मार्क्स ने मात्र विचारों तक रहने वाले दर्शन को अस्वीकारते हुए दुनियाँ को बदलने के कर्म से प्रेरित चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया था। उस आवश्यकता को ध्यान में नरखना आज मानव-अस्तित्व के लिये सर्वथा संकट पूर्ण होगा। ......उसे ऐसा दर्शन भी होना होगा, जिससे जिया जाए जो कर्म का दर्शन हो। अपने सर्वोत्तम रुप में दर्शन के वस्तुओं का विवेचन और व्याख्यान नहीं है। यह एक गतिशील अध्यवसाय है, जिसका लक्ष्य लोगों को उन ध्येयों और मूल्यों कीदिशा में जाना है, जिन्हें यह सबसे अधिक महनीय और इष्ट निरुपित करता है। यह-मानव-जाति को सत्य के उन मानों और सत्य को पाने के उन साधनों के निकटतर लाता है, जिन्हें यह सबसे अधिक विश्वास्य मानता है" (नवल किशोर : मानववाद और साहित्य, पृ० ११०)।

दर्शन में संसार की व्याख्या का जितना सवाल नहीं है उससे ज्यादा इस बालका सवाल है कि इस संसार में जो कुछ जैसा है वैसा ही नहीं रहेगा।

युग सापेक्ष उसको बदलना आवश्यक है। दर्शन परिवर्तन की वैचारिक पीठिका तैयार करता है। दर्शन का संचालन भौतिक शक्तियाँ नहीं करती है अपितु भौतिक शक्ति का संचालन मनुष्य की समझ तक दर्शन से ही प्रभावित होता है। इस प्रकार दर्शन का दायित्व यही नहीं है कि वह जीवन से परे किसी अलौकिक रहस्य की खोज करे अपितु उसे इस भौतिक जगत् की सीमा में आना होगा। सामंती संस्कारों के अनुकूल दर्शन को प्रभुवर्ग का हथियार नहीं बनना होगा अपितु लघु-मानवीय परिवेश के बीच से उसे जुड़ना होगा। भारतीय चिन्तन की प्रक्रिया में भी इस प्रकार के विचार रहे हैं और उनकी खोज आवश्यक है नहीं तो सामाजिक जागरूकता से पूर्ण सामाजिक अपेक्षा में किया गया दर्शन सदिच्छा मात्र बनकर रह जाएगा। अपने चिन्तन की मानववादी पृष्ठभूमि पर खड़े होकर दर्शन की चेतना को बदलना आज की अनिवार्य आवश्यकता है। यहाँ तक पहुँचना है कि "आम जिन्दगी की लड़ाई से दर्शन अलग और ऊपर नहीं है। वरन् वह ऐसे तमाम लोगों और सामाजिक समुदायों के भाग्य तथा भविष्य से जुड़ा है, उन्हें प्रभावित करता है तथा उनसे प्रभावित होता है जो जीविकोपार्जन में लगे हुए हैं, सरकारें बनाते हैं युद्ध लड़ते हैं और धरती में सुख और शक्ति पाना चाहते हैं। दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन को आज हर उस विचार के विरोध में खड़ा होना है जो संसार को अज्ञेय घोषित कर प्रकारान्तर से मनुष्य की अक्षमता को रेखांकित करता है। उन्हें इस तथ्य को प्रतिपादित करना है कि धरती में मनुष्य से बड़ा कोई सत्य नहीं है और इस मनुष्य से परे उसका कोई केन्द्रविन्दु नहीं है। ......आज दर्शन को यथास्थिति वाद के विरोध में ही नहीं हर प्रकार के अमानवीय कृत्यों के विरोध में ही एक सच्चे मानववादी दर्शन के रूप में सामने आना है। उसे जिन्दगी से आँखे मिलानी है, मानवीय जिन्दगी के पेचीदा प्रश्नों से उलझना है, विज्ञान की भरपूर सहायता लेते हुए अपने को सर्वथा नये रूप में ढालना है" (शिवकुमार मिश्र, दर्शन साहित्य और समाज, पृ० ९-१०)। इसका परिणाम है कि प्राचीन चिन्तन और अनुभवात्मक अभिव्यक्ति को आज की मानवीय अर्थवत्ता के सन्दर्भ में ग्रहण करना और उसे अर्थ देना आवश्यक है क्योंकि रचनाकार की रचना होने के नाते उसमें यह सब कुछ है, बाहर से नहीं लादना है। दस सामन्ती संस्कारों के आवरण में फँसी दृष्टि को खोलना होगा और नयी जीवन-दृष्टि से इतिहास तथा वर्तमान से जुड़ना होगा।

भक्तिकालीन कृष्ण काव्य में जब हम सांस्कृतिक मूल्यों और रचनाकार की सामाजिक क्रान्ति की चेतना को पाते हैं तो ऐसा नहीं है कि यह सब कुछ साहित्य का तत्व नहीं है। साहित्यकार कोरा दार्शनिक नहीं, किन्तु दर्शन से पृथक भी नहीं होता। दर्शन अपनी अमूर्त चिन्तना में अभिव्यक्त होकर साहित्य का सहधर्मी बन जाता है। साहित्य में दर्शन व्यावहारिक भूमि पर उतरता है। साहित्यकार दर्शन को मानवीय स्तर पर उतारता है। जीवन की सार्थकता की खोज में लगे रहने के कारण ही साहित्यकार दार्शनिक होता है। इस प्रकार वह युग की सामूहिक दृष्टि की मूल्यात्मक अपेक्षा से जुड़ा रहता है। अतः वह मानव-जीवन की जीवन्तता के लिये ही लिखता है। किसी भी रूप में रचनाकार सामाजिक मानव के दायित्व के प्रति जागरूक होता है। इसीलिये लेखक मानवता का पक्ष लेता है। अतः इस पक्षपात के कारण उसे क्रूरता के प्रति क्रान्ति करनी पड़ती है। लेखक अपनी रचना में स्वायत्तता को मूल्य के स्तर पर स्वीकार करता है। सारी स्वतन्त्रता की आकांक्षा सामाजिक सन्दर्भ में ही होती है। अपनी ठोस सामाजिक स्वतन्त्रता के प्रति ही उसका चेतनात्मक आन्दोलन चलता है। इस प्रकार रचनाकार की कुछ जिम्मेदारियाँ सामने आती हैं — —१— "उसे मुक्ति और स्वतन्त्रता का एक धनात्मक सिद्धान्त तैयार करना चाहिए २—उसे हर हालत में हिंसा की निन्दा अत्याचार—पीड़ित वर्ग की निगाह से करनी चाहिए। और साध्य-साधन में सच्चा रिश्ता कायम करना चाहिए। ३ उसे स्वतन्त्रता के नामपर एक व्यवस्था को जमाने या कायम रखने के लिये हिंसा के किसी भी साधन को स्वीकृति देने से इन्कार कर देना चाहिए। ४—और अन्त में उसे अविश्रान्त रूप में साध्य और साधनों, नीति और राजनीति के सम्बन्धों की समस्या पर विचारना चाहिए।" (नवल किशोर : मानववाद और साहित्य, पृ० १९८)। रचना अपने काल का चरम मूल्य है। उस युग का सत्य उसमें निहित रहता है। उसमें एक प्रकार की प्रगति होती है। रचनाकार अपनी रचना में गतिहीन होकर नहीं जाता है अपितु वह युग के सत्य को प्रतिपादित करते हुए युग के बदलने की आकांक्षा रखता है। इसीसे रचनाकार केवल वर्तमान के मूल्यों का अन्वेषण ही नहीं करता अपितु उसमें भविष्य की सभावनाएँ भी सन्निहित होती हैं। भक्तिकालीन काव्य आन्दोलन को उसके इसी बुनियादी धारणा में रखकर ही देखने की कोशिश की गयी है। पहले उसे काव्य मानकर ही सारी मूल्यात्मक अवधारणा प्रस्तुत की गयी है।

॥ ग्रन्थ-सूची ॥

अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, मायारानी टण्डन : हिन्दी साहित्य भण्डार, गंगा प्रसाद रोड, लखनऊ। १९६०

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवल किशोर : प्रकाशन संस्थान ४५३। १२१२ नईदिल्ली। १९७७

कला विवेचन, कुमार विमल : भारती भवन एक्जिबीजन रोड, पटना। १९६८

काल और कला, दिनकर कौशिक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १९६७

कुंभन दास, सं० व्रजभूषण शर्मा, कण्ठमणि शास्त्री, गोकुलानन्द शर्मा : विद्याविभाग (अष्टछाप स्मारक समिति) कांकरौली। १९५४

कृष्ण भक्ति में रीति परम्परा, राजकुमारी मित्तल : विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा। १९६७

चन्द सखी का जीवन और साहित्य, प्रभुदयाल मित्तल : साहित्य संस्थान मथुरा। १९६३

छीत स्वामी, सं० व्रजभूषण शर्मा, कण्ठमणि शास्त्री, गोकुलानन्द शर्मा : विद्या विभाग (अष्टछाप समिति) कांकरौली। १९५४

दर्शन साहित्य और समाज, शिवकुमार मिश्र : पीपुल्स लिटरेसी ५१७ मटिया महल दिल्ली। १९८१

नई कविता, सं० जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण शाही : किताब महल इलाहाबाद। १९५९

नन्ददास ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा ग्रन्थमाला—३९। १९४८

नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, गजानन माधव मुक्तिबोध : राधाकृष्ण प्रकाशन दरियागंज दिल्ली। १९७१

नयी कविता का आत्म संघर्ष, गजानन माधव मुक्तिबोध। राजकमल प्र०। १९८३

नागरी दास, सं० किशोरी लाल गुप्त : नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी आकर ग्रन्थमाला—८। १९६५

१५ [illegible]
१९६५

१६। परमानन्द सागर (पद संग्रह), सं० गोवर्धन नाथ शुक्ल, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़। १९५८

१७। ब्रजविलास, ब्रजवासी दास कृत : खेमराज श्रीकृष्ण दास अध्यक्ष श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।

१८। ब्रज और बुन्देली लोक गीतों में कृष्ण कथा, शान्ति गुप्त : विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा--३। १९६६

१९। भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी : अग्रवाल प्रेस मथुरा। १९५२

२०। भक्ति काव्य और लोक जीवन, शिवकुमार मिश्र : पिपुल्स लिटरेसी। १९८३

२१। भक्ति चिन्तन की भूमिका, पेमशंकर : साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद। १९७७

२२। भ्रमर गीत संग्रह, स्नेहलता श्रीवास्तव : राजेश्वर प्रेस कृष्णनगर दिल्ली। १९७४

२३। भारत की संस्कृति और कला, राधाकमल मुकर्जी (अनु० रमेश वर्मा) : राजपाल एण्ड सन्स कश्मरी गेट, दिल्ली।

२४। मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, हरगुलाल : भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा, दिल्ली द्वारा हिन्दी अनुसंधान परिषद दिल्ली वि० वि०। १९६७

२५। मानववाद और साहित्य, नवल किशोर : राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली। १९७२

२६। मानव मूल्य और साहित्य, धर्मवीर भारती : ज्ञान पीठ लोकोदय ग्रन्थ माला। १९६०

२७। मीरा वृहत् पद संग्रह, पद्मावती शबनम : लोक सेवा प्रकाशन बनारस। १९५२

२८। मूल्य और मूल्यांकन, रामरतन भटनागर : भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा दिल्ली। १९६२

२९। मूल्य मीमांसा, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी। १९७३

३०। राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण काव्य, जयसिंह नीरज : राजकमल प्रकाशन दिल्ली। १९७६

३१। संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, देवराज : हिन्दी ग्रन्थ समिति, सूचना विभाग लखनऊ। १९७२

३२। संस्कृति मानव कर्तृत्व की व्याख्या, यशदेव शल्य : सामाजिक विज्ञान हिन्दी

रचना केन्द्र राजस्थान वि० वि० जयपुर । १९६७
समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता, रघवंश : केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा । १९७२
समाज, आर० एम० मैकाइवर एवं पेज (अनु० विश्वेश्वरय्या) रतन प्रकाशन मन्दिर । १९७६
साहित्येतिहास संरचना और स्वरूप सुमन राजे : ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर । १९७५
साहित्य लहरी, प्रभु दयाल मीतल : साहित्य संस्थान मथुरा । १९६१
सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती : किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद । १९५५
सूर सारावली, सं० प्रभुदयाल मीतल : अग्रवाल प्रेस मथुरा । १९५७
सूर का कूट काव्य, देशराज भाटी : साहित्य प्रकाशन मालीवाड़ा, दिल्ली ।
सूर सागर १—२ खण्ड, नागरी प्रचारणी ग्रन्थ माला—३५ । १९४८
सूर साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० बम्बई । १९५६
सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल सरस्वती प्रकाशन जलनउर, बनारस । स० २००० वि०
सूरदास (जीवन और काव्य का अध्ययन) व्रजेश्वर वर्मा : हिन्दी परिषद वि० वि० प्रयाग ।
सूर साहित्य नव मूल्यांकन, चन्द्रभान रावत : जवाहर पुस्तकालय सदर बाजार, मथुरा । १९७७
सूर साहित्य सन्दर्भ, स० लक्ष्मीकान्त वर्मा : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।
सूर की काव्य कला, मनमोहन गौतम : भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा दिल्ली । १९५८
सौन्दर्य का तात्पर्य, रामकीर्ति शुक्ल : उत्तर प्रदेश ग्रन्थ अकादमी लखनऊ । १९७५
हिन्दी काव्य संग्रह, सं० बालकृष्ण राव, साहित्य अकादमी नई दिल्ली । १९६८
हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० बम्बई । १९४९
हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी : अत्तर चन कपूर एण्ड सन्स देहली, अम्बाला, आगरा । १९५२
हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : वाणीवितान प्रकाशन ब्रह्मनाल वाराणसी । १९५८